

# प्रस्तावना

पं० दलसुख मालवणिया

अध्यक्ष

ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर

अहमदाबाद—९



प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा  
वैदिकधर्म और जैनधर्म  
प्राचीन यति—मुनि—श्रमण  
तीर्थंकरों की परंपरा  
आगमों का वर्गीकरण  
उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओं का परिमाण  
आगमों का काल  
आगम-विच्छेद का प्रश्न  
श्रुतावतार



## प्रस्तुत इतिहास की योजना और मर्यादा :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' की मर्यादा क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यह केवल जैनधर्म या दर्शन से ही संबद्ध साहित्य का इतिहास नहीं होगा अपितु जैनों द्वारा लिखित समग्र साहित्य का इतिहास होगा।

साहित्य में यह भेद करना कि यह जैनों का लिखा है और यह जैनैतरीयों का, उचित तो नहीं है किन्तु ऐसा विवश होकर ही करना पड़ा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में जैनों द्वारा लिखे विविध साहित्य की उपेक्षा होती आई है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रयत्न जरूरी न होता। उदाहरण के तौर पर संस्कृत साहित्य के इतिहास में जब पुराणों पर लिखना हो या महाकाव्यों पर लिखना हो तब इतिहासकार प्रायः हिन्दु पुराणों से ही सन्तोष कर लेते हैं और यही गति महाकाव्यों की भी है। इस उपेक्षा के कारणों की चर्चा जरूरी नहीं है किन्तु जिन ग्रन्थों का विशेष अभ्यास होता हो उन्हीं पर इतिहासकार के लिए लिखना आसान होता है, यह एक मुख्य कारण है। 'कादंबरी' के पढ़ने-पढ़ानेवाले अधिक हैं अतएव उसकी उपेक्षा इतिहासकार नहीं कर सकता किन्तु धनपाल की 'तिलक-मंजरी' के विषय में प्रायः उपेक्षा ही है क्योंकि वह पाठ्यग्रन्थ नहीं। किन्तु जिन विरल व्यक्तियों ने उसे पढ़ा है वे उसके भी गुण जानते हैं।

इतिहासकार को तो इतनी फुसंत कहाँ कि वह एक-एक ग्रन्थ स्वयं पढ़े और उसका मूल्यांकन करे। , होता प्रायः यही है कि जिन ग्रन्थों की चर्चा अधिक हुई हो उन्हीं को इतिहास-ग्रन्थ में स्थान मिलता है, अन्य ग्रन्थों की प्रायः उपेक्षा होती है। 'यशस्तिलक' जैसे चंपू की बहुत वर्षों तक उपेक्षा ही रही किन्तु डा० हन्दिकी ने जब उसके विषय में पूरी पुस्तक लिख डाली तब उस पर विद्वानों का ध्यान गया।

इसी परिस्थिति को देखकर जब इस इतिहास की योजना बन रही थी तब डा० ए० एन० उपाध्ये का सुभाव था कि इतिहास के पहले विभिन्न ग्रन्थों या विभिन्न विषयों पर अभ्यास, लेख लिखाये जायँ तब इतिहास की सामग्री तैयार होगी और इतिहासकार के लिए 'इतिहास' लिखना आसान होगा। उनका यह बहुमूल्य सुभाव उचित ही था किन्तु उचित यह समझा गया कि जब तक ऐसे लेख तैयार न हो जायँ तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना भी उचित नहीं है। अतएव निश्चय हुआ कि मध्यम मार्ग से जैन साहित्य के इतिहास को

अनेक विद्वानों के सहयोग से लिखा जाय। उसमें गहरे चिन्तनपूर्वक समीक्षा कदाचित् संभव न हो तो भी ग्रन्थ का सामान्य विषय-परिचय दिया जाय जिससे कितने विषय के कौन से ग्रन्थ हैं—इसका तो पता विद्वानों को हो ही जायगा। और फिर जिज्ञासु विद्वान् अपनी रुचि के ग्रन्थ स्वयं पढ़ने लगेंगे।

इस विचार को स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गति दी और यह निश्चय हुआ कि ई० सन् १९५३ में अहमदाबाद में होने वाले प्राच्य विद्या परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर वहाँ विद्वानों की उपस्थिति होगी अतएव उस अवसर का लाभ उठाकर एक योजना विद्वानों के समक्ष रखी जाय। इसी विचार से योजना का पूर्वरूप वाराणसी में तैयार कर लिया गया और अहमदाबाद में उपस्थित निम्न विद्वानों के परामर्श से उसको अन्तिम रूप दिया गया :—

१. मुनि श्री पुण्यविजयजी
२. आचार्य जिनविजयजी
३. पं० सुखलालजी संघवी
४. पं० बेचरदासजी दोशी
५. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
६. डा० ए० एन० उपाध्ये
७. डा० पी० एल० वैद्य
८. डा० मोतीचन्द
९. श्री अग्रचन्द नाहटा
१०. डा० भोगीलाल सांडेसरा
११. डा० प्रबोध पण्डित
१२. डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
१३. प्रो० पद्मनाभ जैनी
१४. श्री बालाभाई वीरचंद देसाई जयभिवडु
१५. श्री परमानन्द कुंवरजी कापड़िया

यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि वाराणसी में योजना संबंधी विचार जब चल रहा था तब उसमें संपूर्ण सहयोग श्री पं० महेन्द्रकुमारजी का था और उन्हीं की प्रेरणा से पंडितद्वय श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री भी सहयोग देने को तैयार हो गये थे। किन्तु योजना का पूर्वरूप

जब तैयार हुआ तो इन तीनों पंडितों ने निर्णय किया कि हमें अलग हो जाना चाहिए। तदनुसार उनके सहयोग से हम वंचित ही रहे—इसका दुःख सबसे अधिक मुझे है। अलग होकर उन्होंने अपनी पृथक् योजना बनाई और यह आनन्द का विषय है कि उनकी योजना के अन्तर्गत पं० श्री कैलाशचन्द्र द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व-पीठिका' श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी से वीरनि० सं० २४८६ में प्रकाशित हुआ है। जैनों द्वारा लिखित साहित्य का जितना अधिक परिचय कराया जाय, अच्छा ही है। यह भी लाभ है कि विविध दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा होगी। अतएव हम उस योजना का स्वागत ही करते हैं।

अहमदाबाद में विद्वानों ने जिस योजना को अन्तिम रूप दिया तथा उस समय जो लेखक निश्चित हुए उनमें से कुछ ने जब अपना अंश लिखकर नहीं दिया तो उन अंशों को दूसरे से लिखवाना पड़ा है किन्तु मूल योजना में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। हम आशा करते हैं कि यथासंभव हम उस मूल योजना के अनुसार इतिहास का कार्य आगे बढ़ावेंगे।

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' जो कई भागों में प्रकाशित होने जा रहा है, उसका यह प्रथम भाग है। जैन अंग ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत भाग में मुझे ही लिखना था किन्तु हुआ यह कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने पं० बेचरदासजी को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में जैन आगमों के विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने ये व्याख्यान विस्तृतरूप से गुजराती में लिखे भी थे। अतएव यह उचित समझा गया कि उन्हीं व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत भाग के लिए अंग ग्रन्थों का परिचय हिन्दी में लिखा जाय। डा० मोहनलाल मेहता ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और इस प्रकार मेरा भार हलका हुआ। डा० मेहता का लिखा 'अंग ग्रन्थों का परिचय' प्रस्तुत भाग में मुद्रित है।

श्री पं० बेचरदासजी का आगमों का अध्ययन गहरा है, उनकी छानबीन भी स्वतंत्र है और आगमों के विषय में लिखनेवालों में वे अग्रदूत ही हैं। उन्हीं के व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया प्रस्तुत अंग-परिचय यदि विद्वानों को अंग आगम के अध्ययन के प्रति आकर्षित कर सकेगा तो योजक इस प्रयास को सफल मानेंगे।

## वैदिकधर्म और जैनधर्म :

वैदिकधर्म और जैनधर्म की तुलना की जाय तो जैनधर्म का वह रूप जो इसके प्राचीन साहित्य से उपलब्ध होता है, वेद से उपलब्ध वैदिकधर्म से अत्यधिक

मात्रा में सुसंस्कृत है। वेद के इन्द्रादि देवों का रूप और जैनों के आराध्य का स्वरूप देखा जाय तो वैदिक देव सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु वृत्तियों की दृष्टि से हीन ही हैं। मानवसुलभ क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियों का वैदिक देवों में साम्राज्य है तो जैनों के आराध्य में इन वृत्तियों का अभाव ही है। वैदिकों के इन देवों की पूज्यता कोई आध्यात्मिक शक्ति के कारण नहीं किन्तु नाना प्रकार से अनुग्रह और निग्रह शक्ति के कारण है जब कि जैनों के आराध्य ऐसी कोई शक्ति के कारण पूज्य नहीं किन्तु वीतरागता के कारण आराध्य हैं। आराधक में वीतराग के प्रति जो आदर है वह उसे उनकी पूजा में प्रेरित करता है जब कि वैदिक देवों का डर आराधक के यज्ञ का कारण है। वैदिकों ने भूदेवों की कल्पना तो की किन्तु वे कालक्रम से स्वार्थी हो गये थे। उनको अपनी पुरोहिताई की रक्षा करनी थी। किन्तु जैनों के भूदेव वीतराग मानव के रूप में कल्पित हैं। उन्हें यज्ञादि करके कमाई का कोई साधन जुटाना नहीं था। धार्मिक कर्मकांड में वैदिकों में यज्ञ मुख्य था जो अधिकांश बिना हिंसा या पशु-वध के पूर्ण नहीं होता था जब कि जैनधर्म में क्रियाकांड तपस्यारूप है—अनशन और ध्यानरूप है जिसमें हिंसा का नाम नहीं है। ये वैदिक यज्ञ देवों को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे जब कि जैनों में अपनी आत्मा के उत्कर्ष के लिए ही धार्मिक अनुष्ठान होते थे। उसमें किसी देव को प्रसन्न करने की बात का कोई स्थान नहीं था। उनके देव तो वीतराग होते थे जो प्रसन्न भी नहीं होते और अप्रसन्न भी नहीं होते। वे तो केवल अनुकरणीय के रूप में आराध्य थे।

वैदिकों ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवों की कल्पना कर रखी थी जो तीनों लोक में थे और उनका वर्ग मनुष्य वर्ग से भिन्न था और मनुष्य के लिये आराध्य था। किन्तु जैनों ने जो एक वर्ग के रूप में देवों की कल्पना की है वे मानव वर्ग से पृथक्वर्ग होते हुए भी उनका वह वर्ग सब मनुष्यों के लिए आराध्य कोटि में नहीं है। मनुष्य देव की पूजा भौतिक उन्नति के लिए भले करे किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए तो उससे कोई लाभ नहीं ऐसा मन्तव्य जैनधर्म का है। अतएव ऐसे ही वीतराग मनुष्यों की कल्पना जैनधर्म ने की जो देवों के भी आराध्य हैं। देव भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। सारांश यह है कि देव की नहीं किन्तु मानव की प्रतिष्ठा बढाने में जैनधर्म अग्रसर है।

देव या ईश्वर इस विश्व का निर्माता या नियंता है, ऐसी कल्पना वैदिकों की देखी जाती है। उसके स्थान में जैनों का सिद्धान्त है कि सृष्टि तो अनादि काल



से चली आती है, उसका नियंत्रण या सर्जन प्राणियों के कर्म से होता है, किसी अन्य कारण से नहीं। विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व होना जरूरी है—इस विषय में वैदिक निष्ठा देखी जाय तो विविध प्रकार की है। अर्थात् वह एक तत्त्व क्या है, इस विषय में नाना मत हैं किन्तु ये सभी मत इस बात में तो एकमत हैं कि विश्व के मूल में कोई एक ही तत्त्व था। इस विषय में जैनों का स्पष्ट मन्तव्य है कि विश्व के मूल में कोई एक तत्त्व नहीं किन्तु वह तो नाना तत्त्वों का संमेलन है।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल में तो देवों को गौणता प्राप्त हो गई और यज्ञ ही मुख्य बन गये। पुरोहितों ने यज्ञक्रिया का इतना महत्त्व बढ़ाया कि यज्ञ यदि उचित ढंग से हों तो देवता के लिए अनिवार्य हो गया कि वे अपनी इच्छा न होते हुए भी यज्ञ के पराधीन हो गये। एक प्रकार से यह देवों पर मानवों की विजय थी किन्तु इसमें भी दोष यह था कि मानव का एक वर्ग—ब्राह्मणवर्ग ही यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य में रखने लग गया था। उस वर्ग की अनिवार्यता इतनी बढ़ा दी गई थी कि उनके बिना और उनके द्वारा किए गये वैदिक मन्त्रपाठ और विधिविधान के बिना यज्ञ की संपूर्ति हो ही नहीं सकती थी। किन्तु जैनधर्म में इसके विपरीत देखा जाता है। जो भी त्याग-तपस्या का मार्ग अपनावे चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता था और मानवमात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बनता था। शूद्र वेदपाठ कर ही नहीं सकता था किन्तु जैनशास्त्रपाठ में उनके लिए कोई बाधा नहीं थी। धर्ममार्ग में स्त्री और पुरुष का समान अधिकार था, दोनों ही साधना करके मोक्ष पा सकते थे।

वेदाध्ययन में शब्द का महत्त्व था अतएव वेदमन्त्रों के पाठ की सुरक्षा हुई, संस्कृत भाषा को पवित्र माना गया, उसे महत्त्व मिला। किन्तु जैनों में पद का नहीं, पदार्थ का महत्त्व था। अतएव उनके यहां धर्म के मौलिक सिद्धांत की सुरक्षा हुई किन्तु शब्दों की सुरक्षा नहीं हुई। परिणाम स्पष्ट था कि वे संस्कृत को नहीं, किन्तु लोकभाषा प्राकृत को ही महत्त्व दे सकते थे। प्राकृत अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव एकरूप रह ही नहीं सकती थी, वह बदलती ही गई जब कि वैदिक संस्कृत उसी रूप में आज वेदों में उपलब्ध है। उपनिषदों के पहले के काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्टरूप से विदित होता है, जब कि जबसे जैनधर्म का इतिहास ज्ञात है तबसे उसमें ब्राह्मण नहीं किन्तु क्षत्रियवर्ग ही नेता माना गया है। उपनिषद् काल में वैदिकधर्म में ब्राह्मणों के समक्ष

क्षत्रियों ने अपना सिर उठाया है और वह भी विद्या के क्षेत्र में। किन्तु वह विद्या वेद न होकर आत्मविद्या थी और उपनिषदों में आत्मविद्या का ही प्राधान्य हो गया है। यह ब्राह्मणवर्ग के ऊपर स्पष्टरूप से क्षत्रियों के प्रभुत्व की सूचना देता है।

वैदिक और जैनधर्म में इस प्रकार का विरोध देखकर आधुनिक पश्चिम के विद्वानों ने प्रारंभ में यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की ही तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिए खड़ा हुआ एक क्रांतिकारो नया धर्म है या वह बौद्धधर्म की एक शाखामात्र है। किन्तु जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का विशेष अध्ययन बढ़ा, पश्चिमी विद्वानों ने ही उनका भ्रम दूर किया और अब सुलभे हुए पश्चिमी विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी यह उचित ही मानने लगे हैं कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है—वह वैदिकधर्म की शाखा नहीं है। किन्तु हमारे यहाँ के कुछ अधिकचरे विद्वान् अभी भी उन पुराने पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करके यह लिख रहे हैं कि जैनधर्म तो वैदिकधर्म की शाखामात्र है या वेदधर्म के विरोध में खड़ा हुआ नया धर्म है। यद्यपि हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं हैं, प्राचीन होनेमात्र से ही जैनधर्म अच्छा नहीं हो जाता किन्तु जो परिस्थिति है उसका यथार्थरूप से निरूपण जरूरी होने से ही यह कह रहे हैं कि जैनधर्म वेद के विरोध में खड़ा होनेवाला नया धर्म नहीं है। अन्य विद्वानों का अनुसरण करके हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि भारत के बाहरी प्रदेश में रहनेवाले आर्य लोग जब भारत में आये तब जिस धर्म से भारत में उनकी टक्कर हुई थी उस धर्म का ही विकसित रूप जैनधर्म है—ऐसा अधिक संभव है। यदि वेद से ही इस धर्म का विकास होता या केवल वैदिकधर्म का विरोध ही करना होता तो जैसे अन्य वैदिकों ने वेद का प्रामाण्य मानकर ही वेदविरोधी बातों का प्रवर्तन कर दिया, जैसे उपनिषद् के ऋषियों ने, वैसे ही जैनधर्म में भी होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, ये तो नास्तिक ही गिने गये—वेद निन्दक ही गिने गये हैं—इन्होंने वेदप्रामाण्य कभी स्वीकृत किया ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में उसे वैदिकधर्म की शाखा नहीं गिना जा सकता। सत्य तो यह है कि वेद के माननेवाले आर्य जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़े हैं वैसे-वैसे वे भौतिकता से दूर हटकर आध्यात्मिकता में अग्रसर होते रहे हैं—ऐसा क्यों हुआ? इसके कारणों की जब खोज की जाती है तब यही फलित होता है कि वे जैसे-जैसे संस्कारी प्रजा के प्रभाव में आये हैं वैसे-वैसे उन्होंने अपना रवैया बदला है—उसी बदलते हुए रविये की गूँज उपनिषदों की रचना में देखी जा सकती है। उपनिषदों में कई वेद-मान्यताओं का विरोध तो है फिर भी वे वेद के अंग बने और वेदान्त कहलाए,

यह एक ओर वेद का प्रभाव और दूसरी ओर नई सूक्त का समन्वय ही तो है। वेद का अंग बनकर वेदान्त कहलाए और एक तरह से वेद का अन्त भी कर दिया। उपनिषद् बन जाने के बाद दार्शनिकों ने वेद को एक ओर रखकर उपनिषदों के सहारे ही वेद की प्रतिष्ठा बढ़ानी शुरू की। वेदभक्ति रही किन्तु निष्ठा तो उपनिषद् में ही बढ़ी। एक समय यह भी आया कि वेद की ध्वनिमात्र रह गई और अर्थ नदारद हो गया। उसके अर्थ का उद्धार मध्यकाल में हुआ भी तो वह वेदान्त के अर्थ को अग्रसर करके ही हुआ। आधुनिक काल में भी दयानंद जैसे ने भी यह साहस नहीं किया कि वेद के मौलिक हिंसा-प्रधान अर्थ की प्रतिष्ठा करें। वेद के ह्रास का यह कारण पूर्वभारत की प्रजा के संस्कारों में निहित है और जैनधर्म के प्रवर्तक महापुरुष जितने भी हुए हैं वे मुख्यरूप से पूर्वभारत की ही देन है। जब हम यह देखते हैं तो सहज ही अनुमान होता है कि पूर्वभारत का यह धर्म ही जैनधर्म के उदय का कारण हो सकता है जिसने वैदिक धर्म को भी नया रूप दिया और हिंसक तथा भौतिक धर्म को अहिंसा और आध्यात्मिकता का नया पाठ पढ़ाया।

जब तक पश्चिमी विद्वानों ने केवल वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया था और जब तक सिंधुसंस्कृति को प्रकाश में लानेवाले खुदाई कार्य नहीं हुए थे तब तक—भारत में जो कुछ संस्कृति है, उसका मूल वेद में ही होना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन वे करते रहे। किन्तु जब से मोहेन-जोदारो और हरप्पा की खुदाई हुई है तब से पश्चिम के विद्वानों ने अपना मत बदल दिया है और वेद के अलावा वेद से भी बढ़-चढ़कर वेदपूर्वकाल में भारतीय संस्कृति थी इस नतीजे पर पहुँचे हैं। और अब तो उस तथाकथित सिंधुसंस्कृति के अवशेष प्रायः समग्र भारतवर्ष में दिखाई देते हैं—ऐसी परिस्थिति में भारतीय धर्मों के इतिहास को उस नये प्रकाश में देखने का प्रारंभ पश्चिमीय और भारतीय विद्वानों ने किया है और कई विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जैनधर्म वैदिकधर्म से स्वतंत्र है। वह उसकी शाखा नहीं है और न वह केवल उसके विरोध में ही खड़ा हुआ है।

### प्राचीन यति—गुनि—श्रमण :

मोहेन-जोदारो में और हरप्पा में जो खुदाई हुई उसके अवशेषों का अध्ययन करके विद्वानों ने उसकी संस्कृति को सिन्धुसंस्कृति नाम दिया था और खुदाई में सबसे निम्न-तर में मिलने वाले अवशेषों को वैदिक संस्कृति से भी प्राचीन संस्कृति के अवशेष हैं—ऐसा प्रतिपादन किया था। सिन्धुसंस्कृति के समान ही संस्कृति

के अवशेष अब तो भारत के कई भागों में मिले हैं—उसे देखते हुए उस प्राचीन संस्कृति का नाम सिन्धुसंस्कृति अब्याप्त हो जाता है। वैदिक संस्कृति यदि भारत के बाहर से आने वाले आर्यों की संस्कृति है तो सिन्धुसंस्कृति का यथार्थ नाम भारतीय संस्कृति ही हो सकता है।

अनेक स्थलों में होनेवाली खुदाई में जो नाना प्रकार की मोहरें मिली हैं उन पर कोई न कोई लिपि में लिखा हुआ भी मिला है। वह लिपि संभव है कि चित्रलिपि हो। किन्तु दुर्भाग्य है कि उस लिपि का यथार्थ वाचन अभी तक हो नहीं पाया है। ऐसी स्थिति में उसकी भाषा के विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है। और वे लोग अपने धर्म को क्या कहते थे, यह किसी लिखित प्रमाण से जानना संभव नहीं है। किन्तु अन्य जो सामग्री मिली है उस पर से विद्वानों का अनुमान है कि उस प्राचीन भारतीय संस्कृति में योग को अवश्य स्थान था। यह तो हम अच्छी तरह से जानते हैं कि वैदिक आर्यों में वेद और ब्राह्मणकाल में योग की कोई चर्चा नहीं है। उनमें तो यज्ञ को ही महत्त्व का स्थान मिला हुआ है। दूसरी ओर जैन-बौद्ध में यज्ञ का विरोध था और योग का महत्त्व। ऐसी परिस्थिति में यदि जैनधर्म को तथाकथित सिन्धुसंस्कृति से भी संबद्ध किया जाय तो उचित होगा।

अब प्रश्न यह है कि वेदकाल में उनका नाम क्या रहा होगा? आर्यों ने जिनके साथ युद्ध किया उन्हें दास, दस्यू जैसे नाम दिये हैं। किन्तु उससे हमारा काम नहीं चलता। हमें तो वह शब्द चाहिए जिससे उस संस्कृति का बोध हो जिसमें योगप्रक्रिया का महत्त्व हो। ये दास-दस्यू पुर में रहते थे और उनके पुरों का नाश करके आर्यों के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पदवी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियों और मुनियों की भी हत्या की है—ऐसा उल्लेख मिलता है ( अथर्व० २. ५. ३ )। अधिक संभव यही है कि ये मुनि और यति शब्द उन मूल भारत के निवासियों की संस्कृति के सूचक हैं और इन्हीं शब्दों की विशेष प्रतिष्ठा जैनसंस्कृति में प्रारंभ से देखी भी जाती है। अतएव यदि जैनधर्म का पुराना नाम यतिधर्म या मुनिधर्म माना जाय तो इसमें आपत्ति की बात न होगी। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल के प्रवाह में बहता हुआ कई शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया था। यही हाल वैदिकों का भी था। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रों में धर्मों के विविध प्रवाहों को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो विभागों में बांटा गया है। इनमें ब्राह्मण तो वे हैं जो वैदिक संस्कृति के अनुयायी हैं और शेष सभी का समावेश श्रमणों में होता था। अतएव इस

दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भ० महावीर और बुद्ध के समय में जैनधर्म का समावेश श्रमणवर्ग में था ।

ऋग्वेद (१०.१३६.२) में 'वातरशना मुनि' का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ है नग्न मुनि । और आरण्यक में जाकर तो श्रमण और 'वातरशना' का एकीकरण भी उल्लिखित है । उपनिषद् में तापस और श्रमणों को एक बताया गया है (बृहदा० ४.३.२२) । इन सबका एक साथ विचार करने पर श्रमणों की तपस्या और योग की प्रवृत्ति ज्ञात होती है । ऋग्वेद के वातरशना मुनि और यति भी ये ही हो सकते हैं । इस दृष्टि से भी जैनधर्म का संबंध श्रमण-परंपरा से सिद्ध होता है और इस श्रमण-परंपरा का विरोध वैदिक या ब्राह्मण-परंपरा से चला आ रहा है, इसकी सिद्धि उक्त वैदिक तथ्य से होती है कि इन्द्र ने यतियों और मुनियों को हत्या की तथा पतंजलि के उस वक्तव्य से भी होती है जिसमें कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध है (पातंजल महाभाष्य ५.४.६) । जैनशास्त्रों में पांच प्रकार के श्रमण गिनाए हैं उनमें एक निर्ग्रन्थ श्रमण का प्रकार है—यही जैनधर्म के अनुयायी श्रमण हैं । उनका बौद्धग्रन्थों में निर्ग्रन्थ नाम से परिचय कराया गया है—इससे इस मत की पुष्टि होती है कि जैन मुनि या यति को भ० बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थ कहा जाता था और वे श्रमणों के एक वर्ग में थे ।

सारांश यह है कि वेदकाल में जैनों के पुरखे मुनि या यति में शामिल थे । उसके बाद उनका समावेश श्रमणों में हुआ और भगवान् महावीर के समय वे निर्ग्रन्थ नाम से विशेषरूप से प्रसिद्ध थे । जैन नाम जैनों की तरह बौद्धों के लिए भी प्रसिद्ध रहा है क्योंकि दोनों में जिन की आराधना समानरूप से होती थी । किन्तु भारत से बौद्धधर्म के प्रायः लोप के बाद केवल महावीर के अनुयायियों के लिए जैन नाम रह गया जो आज तक चालू है ।

## तीर्थंकरों की परंपरा :

जैन-परंपरा के अनुसार इस भारतवर्ष में कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त है । प्रत्येक में छः आरे होते हैं । अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है । इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था । अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुनः उत्सर्पिणी कालचक्र शुरू होगा । इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और अनन्तकाल तक चलेगा । उत्सर्पिणी में सभी भाव उत्पत्ति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी में ह्रास को । किन्तु दोनों में तीर्थंकरों का जन्म होता है । उनकी

संख्या प्रत्येक में २४ की मानी गई है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी में अबतक २४ तीर्थंकर हो चुके हैं। अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव। इन दोनों के बीच का अन्तर असंख्य वर्ष है। अर्थात् जैन-परंपरा के अनुसार ऋषभदेव का समय भारतीय ज्ञात इतिहासकाल में नहीं आता। उनके अस्तित्वकाल की यथार्थता सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नहीं। अतएव हम उन्हें पौराणिक काल के अन्तर्गत ले सकते हैं। उनकी अवधि निश्चित नहीं करते। किन्तु ऋषभदेव का चरित्र जैनपुराणों में वर्णित है और उसमें जो समाज का चित्रण है वह ऐसा है कि उसे हम संस्कृति का उषः काल कह सकते हैं। उस समाज में राजा नहीं था, लोगों को लिखना-पढ़ना, खेती करना और हथियार चलाना नहीं आता था। समाज में अभी सुसंस्कृत लग्नप्रथा ने प्रवेश नहीं किया था। भाई-बहन पति-पत्नी की तरह व्यवहार करते और संतानोत्पत्ति होती थी। इस समाज को सुसंस्कृत बनाने का प्रारंभ ऋषभदेव ने किया।

यहाँ हमें ऋग्वेद के यम-यमी संवाद की याद आती है। उसमें यमी जो यम की बहन है वह यम के साथ संभोग की इच्छा करती है किन्तु यम ने नहीं माना, और दूसरे पुरुष की तलाश करने को कहा। उससे यह भूलक मिलती है कि भाई-बहन का पति-पत्नी होकर रहना किसी समय समाज में जायज था किन्तु उस प्रथा के प्रति ऋग्वेद के समय में अरुचि स्पष्ट है। ऋग्वेद का समाज ऋषभदेवकालीन समाज से आगे बढ़ा हुआ है—इसमें संदेह नहीं है। कृषि आदि का उस समाज में प्रचलन स्पष्ट है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ऋषभदेव के समाज का काल ऋग्वेद से भी प्राचीन हो जाता है। कितना प्राचीन, यह कहना संभव नहीं अतएव उसकी चर्चा करना निरर्थक है। जिस प्रकार जैन शास्त्रों में राजपरंपरा की स्थापना की चर्चा है और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की व्यवस्था है वैसे ही काल की दृष्टि से उन्नति और ह्रास का चित्र तथा राजपरंपरा की स्थापना का चित्र बौद्धपरंपरा में भी मिलता है। इसके लिए दीघनिकाय के चक्खवत्तिसुत्त ( भाग ३, पृ० ४६ ) तथा अग्गञ्जसुत्त ( भाग ३, पृ० ६३ ) देखना चाहिए। जैनपरंपरा के कुलकरों की परंपरा में नाभि और उनके पुत्र ऋषभ का जो स्थान है करीब वैसे ही स्थान बौद्धपरंपरा में महासंमत का है ( अग्गञ्जसुत्त-दीघ० का ) और सामयिक परिस्थिति भी दोनों में करीब-करीब समानरूप से चित्रित है। संस्कृति के विकास का उसे प्रारंभ काल कहा जा सकता है। ये सब वरान पौराणिक हैं, यही उसकी प्राचीनता में प्रबल प्रमाण माना जा सकता है।

हिन्दु पुराणों में ऋषभचरित ने स्थान पाया है और उनके माता-पिता मरुदेवी और नाभि के नाम भी वही हैं जैसा जैनपरंपरा मानती है और उनके त्याग और तपस्या का भी वही रूप है जैसा जैनपरंपरा में वर्णित है। और आश्रय तो यह है कि उनको वेदविरोधी मान कर भी विष्णु के अवताररूप से बुद्ध की तरह माना गया है।<sup>१</sup> यह इस बात का प्रमाण है कि ऋषभ का व्यक्तित्व प्रभावक था और जनता में प्रतिष्ठित भी। ऐसा न होता तो वैदिक परंपरा में तथा पुराणों में उनको विष्णु के अवतार का स्थान न मिलता। जैनपरंपरा में तो उनका स्थान प्रथम तीर्थंकर के रूप में निश्चित किया गया है। उनकी साधना का क्रम यज्ञ न होकर तपस्या है—यह इस बात का प्रमाण है कि वे श्रमण-परंपरा से मुख्यरूप से संबद्ध थे। श्रमणपरंपरा में यज्ञ द्वारा देव में नहीं किन्तु अपने कर्म द्वारा अपने में विश्वास मुख्य है।

पं० श्री कैलाशचन्द्र ने शिव और ऋषभ के एकीकरण की जो संभावना प्रकट की है और जैन तथा शैव धर्म का मूल एक परंपरा में खोजने का जो प्रयास किया है<sup>२</sup> वह सर्वमान्य हो या न हो किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषभ का व्यक्तित्व ऐसा था जो वैदिकों को भी आकर्षित करता था और उनकी प्राचीनकाल से ऐसी प्रसिद्धि रही जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं था। अतएव ऋषभचरित ने एक या दूसरे प्रसंग से वेदों से लेकर पुराणों और अंत में श्रीमद्भागवत में भी विशिष्ट अवतारों में स्थान प्राप्त किया है। अतएव डा. जेकोबी ने भी जैनों की इस परंपरा में कि जैनधर्म का प्रारंभ ऋषभदेव से हुआ है—सत्य की संभावना मानी है।<sup>३</sup>

डा. राधाकृष्णन् ने यजुर्वेद में ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख होने को बात कही है किन्तु डा० शुब्रिग मानते हैं कि वैसी कोई सूचना उसमें नहीं है।<sup>४</sup> पं. श्री कैलाशचन्द्र ने<sup>५</sup> डा० राधाकृष्णन् का समर्थन किया है। किन्तु इस विषय में निर्णय के लिए अधिक गवेषणा की आवश्यकता है।

१. History of Dharmasāstra, Vol. V, part II, p, 995;  
जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, पृ० १२०.

२. जै० सा० ३० पूर्वपीठिका, पृ० १०७.

३. देखिये—जै० सा० ३० पू०, पृ० ५

४. डॉकिट्रन ऑफ दी जैन्स, पृ० २७, टि. २.

५. जै० सा० ३० पू०, पृ० १०८.

एक ऐसी भी मान्यता विद्वानों में प्रचलित है<sup>१</sup> कि जैनो ने अपने २४ तीर्थंकरों की नामावलि की प्रति प्राचीनकाल में भारत में प्रसिद्ध उन महापुरुषों के नामों को लेकर की है जो जैनधर्म को अपनानेवाले विभिन्न वर्गों के लोगों में मान्य थे। इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ये महापुरुष यज्ञों की—हिसक यज्ञों की प्रतिष्ठा करनेवाले नहीं थे किन्तु करुणा की और त्याग-तपस्या की तथा आध्यात्मिक साधना की प्रतिष्ठा करनेवाले थे—ऐसा माना जाय तो इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं हो सकती।

जैनपरंपरा में ऋषभ से लेकर भ० महावीर तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं उनमें से कुछ ही का निर्देश जैनतर शास्त्रों में है। तीर्थंकरों की जो कथाएँ जैनपुराणों में दी गई हैं उनमें ऐसी कथाएँ भी हैं जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु नामान्तरों से। अतएव उनपर विशेष विचार न करके यहाँ उन्हीं तीर्थंकरों पर विशेष विचार करना है जिनका नामसाम्य अन्यत्र उपलब्ध है या जिनके विषय में बिना नाम के भी निश्चित प्रमाण मिल सकते हैं।

बौद्ध अंगुत्तरनिकाय में पूर्वकाल में होनेवाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरों की बात भगवान् बुद्ध ने कही है—“भूतपुष्वं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो ... मुगपक्ख ... अरनेमि ... कुद्दालक ... हत्थिपाल ... जोत्तिपाल ... अरको नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो। अरकस्स खो पन, भिक्खवे, सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेसु” ( भाग ३. पृ० २५६-२५७ )।

इसी प्रसंग में अरकसुत्त में अरक का उपदेश कसा था, यह भी भ० बुद्धने वर्णित किया है। उनका उपदेश था कि “अप्पकं जीवितं मनुस्सानं परित्तं, लहुकं बहुदुक्खं बहुपायासं मन्तयं बोद्धव्वं, कत्तव्वं कुसलं, चरितव्वं ब्रह्मचरियं, नत्थि जातस्स अमरणं” (पृ० २५७)। और मनुष्यजीवन की इस नश्वरता के लिए उपमा दी है कि सूर्य के निकलने पर जैसे वृणाग्र में स्थित ( घास आदि पर पड़ा ) ओसबिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाता है वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी शीघ्र मरणाधीन होता है। इस प्रकार इस ओसबिन्दु की उपमा के अलावा पानी के बुद्बुद और पानी में दंडराजी आदि का भी उदाहरण देकर जीवन की क्षणिकता बताई गई है ( पृ० २५८ )।

अरक के इस उपदेश के साथ उत्तराध्ययनगत ‘समयं गोयम मा पमायए’ उपदेश तुलनीय है ( उत्तरा. अ. १० )। उसमें भी जीवन की क्षणिकता

१. Doctrine of the Jainas, p. 28.



के ऊपर भार दिया गया है और अप्रमादी बनने को कहा गया है। उसमें भी कहा है—

**कुसगो जह ओसविन्दुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।  
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥**

अरक के समय के विषय में भ० बुद्ध ने कहा है कि अरक तीर्थंकर के समय में मनुष्यों की आयु ६० हजार वर्ष की होती थी, ५०० वर्ष की कुमारिका पति के योग्य मानी जाती थी। उस समय के मनुष्यों को केवल छः प्रकार की पीड़ा होती थी—शीत, उष्ण, भूख, तृषा, पेशाब करना और मलोत्सर्ग करना। इनके अलावा कोई रोगादि की पीड़ा न होती थी। इतनी बड़ी आयु और इतनी कम पीड़ा फिर भी अरक का उपदेश जीवन की नश्वरता का और जीवन में बहुदुःख का था।

भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित इस अरक तीर्थंकर की बात का अठारहवें जैन तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठ सकता है या नहीं, यह विचारणीय है। जैनशास्त्रों के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके बाद होनेवाली मल्ली तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्ली के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल में हुआ था जिन्हें बौद्ध और जैन दोनों ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बुद्ध के बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कुछ संबंध हो सकता है। नामसाम्य आंशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है।

बौद्ध धेरगाथा में एक अजित धेर के नाम से गाया है—

**“मरणे मे भयं नत्थि निकन्ति नत्थि जीविते ।  
सन्देहं निक्खिपिस्सामि सम्पजानो पटिस्सतो ॥”**

—धेरगाथा १.२०

उसकी अट्टकथा में कहा गया है कि ये अजित ६१ कल्प के पहले प्रत्येकबुद्ध हो गये हैं। जैनों के दूसरे तीर्थंकर अजित और ये प्रत्येकबुद्ध अजित योग्यता और नाम के अलावा पौराणिकता में भी साम्य रखते हैं। महाभारत में अजित और शिव का ऐक्य वर्णित है। बौद्धों के, महाभारत के और जैनों के अजित एक हैं

या भिन्न, यह कहना कठिन है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि अजित नामक व्यक्ति ने प्राचीनकाल में प्रतिष्ठा पाई थी।

बौद्धपिटक में निगगन्थ नातपुत्त का कई बार नाम आता है और उनके उपदेश की कई बातें ऐसी हैं जिससे निगगन्थ नातपुत्त की ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर से अभिन्नता सिद्ध होती है। इस विषय में सर्वप्रथम डा० जेकोबी ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था और अब तो यह बात सर्वमान्य हो गई है। डा० जेकोबी ने बौद्धपिटक से ही भ० पार्श्वनाथ के अस्तित्व को भी साबित किया है। भ० महावीर के उपदेशों में बौद्धपिटकों में बारबार उल्लेख आता है कि उन्होंने चतुर्याम का उपदेश दिया है। डा० जेकोबी ने इस परसे अनुमान लगाया है कि बुद्ध के समय में चतुर्याम का पार्श्वनाथ द्वारा दिया गया उपदेश जैसा कि स्वयं जैनधर्म की परंपरा में माना गया है, प्रचलित था। भ० महावीर ने उस चतुर्याम के स्थान में पाँच महाव्रत का उपदेश दिया था। इस बात को बुद्ध जानते न थे। अतएव जो पार्श्वका उपदेश था उसे महावीर का उपदेश कहा गया। बौद्धपिटक के इस गलत उल्लेख से जैन परंपरा को मान्य पार्श्व और उनके उपदेश का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बौद्धपिटक से हम पार्श्वनाथ के अस्तित्व के विषय में प्रबल प्रमाण पाते हैं।

सोरेन्सन ने महाभारत के विशेषनामों का कोष बनाया है। उसके देखने से पता चलता है कि सुपार्श्व, चन्द्र और सुमति ये तीन नाम ऐसे हैं जो तीर्थंकरों के नामों से साम्य रखते हैं। विशेष बात यह भी ध्यान देने की है कि ये तीनों ही असुर हैं। और यह भी हम जानते हैं कि पौराणिक मान्यता के अनुसार अर्हंतों ने जो जैनधर्म का उपदेश दिया है वह विशेषतः असुरों के लिए था। अर्थात् वैदिक पौराणिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरों का धर्म है। ईश्वर के अवतारों में जिस प्रकार ऋषभ को अवतार माना गया है उसी प्रकार सुपार्श्व को महाभारत में कुपथ नामक असुर का अंशावतार माना गया है। चन्द्र को भी अंशावतार माना गया है। सुमति नामक असुर के लिए कहा गया है कि वरुणप्रासाद में उनका स्थान दैत्यों और दानवों में था। तथा एक अन्य सुमति नाम के ऋषि का भी महाभारत में उल्लेख है जो भीष्म के समकालीन बताए गए हैं।

जिस प्रकार भागवत में ऋषभ को विष्णु का अवतार माना गया है उसी प्रकार अवतार के रूप में तो नहीं किन्तु विष्णु और शिव के जो सहस्रनाम महाभारत में दिये गये हैं उनमें श्रेयस, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव—ये नाम विष्णु के भी हैं और ऐसे ही नाम जैन तीर्थंकरों के भी मिलते हैं। सहस्रनामों

के अभ्यास से यह पता चलता है कि पौराणिक महापुरुषों का अभेद विष्णु से और शिव से करना—यह भी उसका एक प्रयोजन था। प्रस्तुत में इन नामों से जैन तीर्थंकर अभिप्रेत हैं या नहीं, यह विचारणीय है। शिव के नामों में भी अनन्त, धर्म, अजित, ऋषभ—ये नाम आते हैं, जो तत्तत् तीर्थंकरों के नाम भी हैं।

शान्ति विष्णु का भी नाम है, यह कहा ही गया है। महाभारत के अनुसार उस नाम के एक इन्द्र और ऋषि भी हुए हैं। इनका संबन्ध शान्ति नामक जैन तीर्थंकर से है या नहीं, यह विचारणीय है। बीसवें तीर्थंकर के नाम मुनि-सुव्रत में मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाय तो सुव्रत नाम ठहरता है। महाभारत में विष्णु और शिव का भी एक नाम सुव्रत मिलता है। नाम-साम्य के अलावा जो इन महापुरुषों का संबंध असुरों से जोड़ा जाता है वह इस बात के लिए तो प्रमाण बनता ही है कि ये वेदविरोधी थे। उनका वेदविरोधी होना उनके श्रमणपरंपरा से संबद्ध होने की संभावना को दृढ़ करता है।

### आगमों का वर्गीकरण :

सांप्रतकाल में आगम रूप से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं और मान्य हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। उनका वर्गीकरण करके यह सूची दी है क्योंकि प्रायः उसी रूप में वर्गीकरण सांप्रतकाल में मान्य है<sup>१</sup>—

११ अंग—जो श्वेताम्बरों के सभी संप्रदायों को मान्य हैं वे हैं—

१ आचार ( आचार ), २ सूयगड ( सूत्रकृत ), ३ ठाण ( स्थान ), ४ सम-वाय, ५ वियाहपन्नति ( व्याख्याप्रज्ञप्ति ), ६ नायाधम्मकहाओ ( ज्ञात-धर्मकथाः ), ७ उवासगदसाओ ( उपासकदशाः ), ८ अंतगडदसाओ ( अन्तकृद्दशाः ), ९ अनुत्तरो-ववाइयदसाओ ( अनुत्तरौपपातिकदशाः ), १० पण्हावागरणाई ( प्रश्नव्याकरणानि ), ११ विवागसुयं ( विपाकश्रुतम् ) ( १२ दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है )।

१२ उपांग—जो श्वेताम्बरों के तीनों संप्रदायों को मान्य हैं—

१ उववाइयं ( औपपातिकं ), २ रायपसेणइज्जं ( राजप्रसेनजित्कं ) अथवा रायपसेणियं ( राजप्रश्नीयं ), ३ जीवाजीवाभिगम, ४ पण्णवणा ( प्रज्ञापना ), ५ सूरपण्णत्ति ( सूर्यप्रज्ञप्ति ), ६ जंबुद्वीवपण्णत्ति ( जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ), ७ चंदपण्णत्ति ( चन्द्रप्रज्ञप्ति ), ८-१२ निरयावलियासुयक्खंध ( निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध ) : ८ निरयावलियाओ ( निरयावलिकाः ), ९ कण्णवडिसियाओ ( कल्पावर्तसिकाः ),

१. विशेष विस्तृत चर्चा के लिए देखिए—प्रो० कापडिया का ए हिस्ट्री ऑफ दी कैनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २.

१० पुष्पिकाओ ( पुष्पिकाः ), ११ पुष्पचूलाओ ( पुष्पचूलाः ), १२ वण्हदसाओ ( वृष्णिदशाः ) ।

१० प्रकीर्णक—जो केवल श्रे० मूर्तिपूजक संप्रदाय को मान्य हैं—

१ चउसरण ( चतुःशरण ), २ आउरपच्चक्खाण ( आतुरप्रत्याख्यान ), ३ भत्तपरिन्ना ( भक्तपरिज्ञा ), ४ संथार ( संस्तार ), ५ तंडुलवेयालिय ( तंडुल वैचारिक ), ६ चंदवेज्झय ( चन्द्रवेध्यक ), ७ देविन्दत्थय ( देवेन्द्रस्तव ), ८ गणिविजा ( गणिविद्या ), ९ महापच्चक्खाण ( महाप्रत्याख्यान ), १० वीरत्थय ( वीरस्तव ) ।

६ छेद—१ आयारदसा अथवा दसा ( आचारदशा ), २ कप्प ( कल्प<sup>१</sup> ), ३ ववहार ( व्यवहार ), ४ निसीह ( निशीथ ), ५ महानिसीह ( महानिशीथ ), ६ जीयकप्प ( जीतकल्प ) । इनमें से अंतिम दो स्था० और तेरापथी को मान्य नहीं हैं ।

२ चूलिकासूत्र—१ नन्दी, २ अगुयोगदारा ( अनुयोगद्वाराणि ) ।

४ मूलसूत्र—१ उत्तरज्झाया ( उत्तराध्यायाः ), २ दसवेयालिय ( दशवैकालिक ), ३ आवस्सय ( आवश्यक ), ४ पिण्डनिज्जुत्ति ( पिण्डनियुक्ति ) । इनमें से अंतिम स्था० और तेरा० को मान्य नहीं है ।

यह जो गणना दी गई है उसमें एक के बदले कभी-कभी दूसरा भी आता है, जैसे पिण्डनियुक्ति के स्थान में ओघनियुक्ति । दशप्रकीर्णकों में भी नामभेद देखा जाता है । छेद में भी नामभेद है । कभी-कभी पंचकल्प को इस वर्ग में शामिल किया जाता है ।<sup>२</sup>

प्राचीन उपलब्ध आगमों में आगमों का जो परिचय दिया गया है उसमें यह पाठ है—“इह खलु समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं... इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पणत्ते, तं जहा—आयारे सुयगडे ठाणे समवाए वियाहपन्नत्ति नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अंतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरणं विवागसुए दिट्ठिवाए । तत्थ णं जे से चउत्थे अंगे समवाए त्ति आहिए तस्स णं अयमट्ठे पणत्ते” (समवाय अंग का प्रारंभ) ।

१. दशाश्रुत में से पृथक् किया गया एक दूसरा कल्पसूत्र भी है । उसके नामसाम्य से भ्रम उत्पन्न न हो इसलिए इसका दूसरा नाम बृहत्कल्प रखा गया है ।

२. देखिए—कापडिया—ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ जैन्स, प्रकरण २.

समवायांग मूल में जहाँ १२ संख्या का प्रकरण चला है वहाँ द्वादशांग का परिचय न देकर एक कोटि समवाय के बाद वह दिया है। वहाँ का पाठ इस प्रकार प्रारंभ होता है—“दुवालसंगे गणिपिडगे पन्नत्ते, तं जहा-आयारे... दिट्ठिवाए। से कं तं आयारे ? आयारे णं समणाणं.....” इत्यादि क्रम से एक-एक का परिचय दिया है। परिचय में “अंगट्ठयाए पढमे.....अंगट्ठयाए दोञ्जे.....” इत्यादि देकर द्वादश अंगों के क्रम को भी निश्चित कर दिया है। परिणाम यह हुआ कि जहाँ कहीं अंगों की गिनती की गई, पूर्वोक्त क्रम का पालन किया गया। अन्य वर्गों में जैसा व्युत्क्रम दीखता है वैसा द्वादशांगों के क्रम में नहीं देखा जाता।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि “तस्स णं अयमट्ठे पणत्ते”(समवाय का प्रारंभ) और “अंगट्ठयाए पढमे”—इत्यादि में ‘अट्ठ’ (अर्थ) शब्द का प्रयोग किया है वह विशेष प्रयोजन से है। जो यह परंपरा स्थिर हुई है कि ‘अर्थ भासइ अरहा’ (आवनि० १६२)—उसी के कारण प्रस्तुत में ‘अट्ठ’—‘अर्थ’ शब्द का प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थरचना—शब्द-रचना तीर्थकर भ० महावीर की नहीं है किन्तु उपलब्ध आगम में जो ग्रन्थ-रचना है, जिन शब्दों में यह आगम उपलब्ध है उससे फलित होनेवाला अर्थ या तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रगीत है। ये ही शब्द भगवान् के नहीं हैं किन्तु इन शब्दों का तात्पर्य जो स्वयं भगवान् ने बताया था उससे भिन्न नहीं है। उन्हीं के उपदेश के आधार पर “सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं” (आवनि० १६२)—गणधर सूत्रों की रचना करते हैं। सारांश यह है कि उपलब्ध अंग आगम की रचना गणधरों ने की है—ऐसी परंपरा है। यह रचना गणधरों ने अपने मन से नहीं की किन्तु भ० महावीर के उपदेश के आधार पर की है अतएव ये आगम प्रमाण माने जाते हैं।

तीसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि इन द्वादश ग्रन्थों को ‘अंग’ कहा गया है। इन्हीं द्वादश अंगों का एक वर्ग है जिनका गणिपिटक के नाम से परिचय दिया गया है। गणिपिटक में इन बारह के अलावा अन्य आगम ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है इससे यह भी सूचित होता है कि मूलरूप से आगम ये ही थे और इन्हीं की रचना गणधरों ने की थी।

‘गणिपिटक’ शब्द द्वादश अंगों के समुच्चय के लिए तो प्रयुक्त हुआ ही है किन्तु वह प्रत्येक के लिए भी प्रयुक्त होता होगा ऐसा समवायांग के एक उल्लेख से प्रतीत होता है—“तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलिया वज्जाणं

सत्तावन्नं अज्ज्ञयणा पन्नत्ता तं जहा-आयारे सूयगडे ठाणे ।” —समवाय ५७वां । अर्थात् आचार आदि प्रत्येक की जैसे अंग संज्ञा है वैसे ही प्रत्येक की ‘गणिपिटक’ ऐसी भी संज्ञा थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

वैदिक साहित्य में ‘अंग’ ( वेदांग ) संज्ञा संहिताएं, जो प्रधान वेद थे, उनसे भिन्न कुछ ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त है । और वहाँ ‘अंग’ का तात्पर्य है वेदों के अध्ययन में सहायभूत विविध विद्याओं के ग्रन्थ । अर्थात् वैदिकवाङ्मय में ‘अंग’ का तात्पर्यार्थ मौलिक नहीं किन्तु गौण ग्रन्थों से है । जैनों में ‘अंग’ शब्द का यह तात्पर्य नहीं है । आचार आदि अंग ग्रन्थ किसी के सहायक या गौण ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु इन्हीं बारह ग्रन्थों से बनेवाले एक वर्ग की इकाई होने से ‘अंग’ कहे गये हैं<sup>१</sup> इसमें सन्देह नहीं । इसीसे आगे चलकर श्रुतपुरुष<sup>२</sup> की कल्पना की गई और इन द्वादश अंगों को उस श्रुतपुरुष के अंगरूप से माना गया ।

अधिकांश जैनतीर्थकरों की परंपरा पौराणिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैनसाहित्य का जो आदि स्रोत समझा जाता है वह जैनागमरूप अंगसाहित्य वेद जितना पुराना नहीं है, यह मानी हुई बात है । फिर भी उसे बौद्धपिटक का समकालीन तो माना जा सकता है ।<sup>३</sup>

डा० जेकोबी आदि का तो कहना है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचना-समय जो भी माना जाय किन्तु उसमें जिन तथ्यों का संग्रह है वे तथ्य ऐसे नहीं हैं जो उसी काल के हों । ऐसे कई तथ्य उसमें संगृहीत हैं जिनका संबंध प्राचीन पूर्वपरंपरा से है ।<sup>४</sup> अतएव जैनागमों के समय का विचार करना हो तब विद्वानों की यह मान्यता ध्यान में अवश्य रखनी होगी ।

जैनपरंपरा के अनुसार तीर्थकर भले ही अनेक हों किन्तु उनके उपदेश में साम्य होता है<sup>५</sup> और तत्काल में जो भी अंतिम तीर्थकर हों उन्हीं का उपदेश

१ Doctrine of the Jains, p, 73.

२. नंदीचूण्टि, पृ० ४७; कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० २१.

३. “बौद्धसाहित्य जैनसाहित्य का समकालीन ही हैं”—ऐसा पं० कैलाशचन्द्र जब लिखते हैं तब इसका अर्थ यही हो सकता है । देखिये—जैन. सा. इ. पूर्वपीठिका, पृ० १७४.

४. Doctrine of the Jains, p 15.

५. इसी दृष्टि से जैनागमों को अनादि-अनंत कहा गया है—“इच्छेइयं दुवालसंगं गण्णिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, सुवि च भवइ च. भविस्सइ य, धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे”—नन्दी, सू० ५८; समवायांग, सू०, १४८.

और शासन विचार और आचार के लिए प्रजा में मान्य होता है। इस दृष्टि से भ. महावीर अंतिम तीर्थंकर होने से उन्हीं का उपदेश अंतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरों का उपदेश उपलब्ध भी नहीं और यदि हो तब भी वह भ० महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

प्रस्तुत में यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरों ने। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्ता भ० महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्ता गणधर हैं।<sup>१</sup> अनुयोगद्वारागत ( सू० १४४, पृ० २१६ ) सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणंत-रागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद हैं उनसे भी इसी का समर्थन होता है। भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का संवाद भ० पार्श्वनाथ के उपदेश से है। तथा यह भी शास्त्रों में कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक संदेश में मूलतः कोई भेद नहीं है। कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दीखता हो।<sup>२</sup>

जैन परंपरा में आज शास्त्र के लिए 'आगम' शब्द व्यापक हो गया है किन्तु प्राचीन काल में वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था।<sup>३</sup> इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि आगमकेवली या सूत्रकेवली। और स्थविरों की गणना में भी श्रुतस्थविर<sup>४</sup> को स्थान मिला है वह भी 'श्रुत' शब्द की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायों का संग्रह कर दिया है वह इस प्रकार है<sup>५</sup>—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमें से आज 'आगम'<sup>६</sup> शब्द ही विशेषतः प्रचलित है।

समवायांग आदि आगमों से मालूम होता है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया था उसकी संकलना 'द्वादशांगो' में हुई और वह 'गणपिटक' इसलिए

१. अर्थ भासइ अरहा सुत्तं गंधंति गणधरा निउर्यं ।

सासणस्स हियट्ठाए तत्रो सुत्तं पवत्तइ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १६२; धवला भा० १, पृ० ६४ तथा ७२.

२. Doctrine of the Jainas, p. 29.

३. नन्दी, सू० ४१. ४. स्थानांग, सू० १५६. ५. तत्त्वार्थभाष्य, १. २०.

६. सर्वप्रथम अनुयोगद्वारा सूत्र में लोकोत्तर आगम में द्वादशांग गणपिटक का समावेश किया है और आगम के कई प्रकार के भेद किये हैं—सू० १४४, पृ०. २१८.

कहलाया कि गणि के लिए वही श्रुतज्ञान का भंडार था ।<sup>१</sup>

समय के प्रवाह में आगमों की संख्या बढ़ती ही गई जो ८५ तक पहुँच गई है । किन्तु सामान्य तौर पर श्रेताम्बरों में मूर्तिपूजक संप्रदाय में वह ४५ और स्थानकवासी तथा तेरापंथ में ३२ संख्या में सीमित है । दिगम्बरों में एक समय ऐसा था जब वह संख्या १२ अंग और १४ अंगबाह्य = २६ में सीमित थी ।<sup>२</sup> किन्तु अंगज्ञान की परंपरा वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष तक ही रही और उसके बाद वह आंशिक रूप से चलती रही—ऐसी दिगम्बर-परंपरा है ।<sup>३</sup>

आगम की क्रमशः जो संख्यावृद्धि हुई उसका कारण यह है कि गणधरों के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम में संनिविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी । इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मंदबुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रन्थ बनाए थे उनका समावेश भी, आगम के साथ उनका अविरोध होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करनेवाले होने से, आगमों में कर लिया गया । अंत में संपूर्णदशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से विरोध इसलिए भी नहीं हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते थे । निम्न गाथा से इसी बात की सूचना मिलती है—

सुतं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च ।

सुदकेवलिया कथिदं अभिण्णदसपूव्वकथिदं च ॥ ४

—मूलाचार, ५. ८०

इससे कहा जा सकता है कि किसी ग्रन्थ के आगम में प्रवेश के लिए यह मानदंड था । अतएव वस्तुतः जब से दशपूर्वा नहीं रहे तब से आगम की संख्या

१. “दुवालसंगे गणपिडगे”—समवायांग, सू० १ और १३६ ; नन्दी, सू० ४१ आदि ।

२. जयधवला, पृ० २५ ; धवला, भा० १ पृ० १६ ; गोम्मटसार—जीवकांड, गा० ३६७, ३६८. विशेष के लिए देखिए—आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २२—२७.

३. जै० सा० ३० पूर्वपीठिका, पृ० ५२८, ५३४; ५३८ ( इनमें सकलश्रुतज्ञान का विच्छेद उल्लिखित है । यह संगत नहीं जँचता ) ।

४. यही गाथा जयजवला में उद्धृत है—पृ० १५३. इसी भाव को व्यक्त करनेवाली गाथा संस्कृत में द्रोणाचार्य ने ओषनिर्मुक्ति की टीका में पृ० ३ में उद्धृत की है ।



में वृद्धि होना रुक गया होगा, ऐसा माना जा सकता है। किन्तु श्वेताम्बरों के आगमरूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो उस काल के बाद भी आगम में संमिलित कर लिये गये हैं। इसमें उन ग्रन्थों की निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि में उनका विशेष उपयोग—ये ही कारण हो सकते हैं। या कर्ता आचार्य की उस काल में विशेष प्रतिष्ठा भी कारण हो सकती है।

जैनागमों की संख्या जब बढ़ने लगी तब उनका वर्गीकरण भी आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत संग्रह द्वादश 'अंग' या 'गणपिटक' में था अतएव यह स्वयं एक वर्ग हो जाय और उससे अन्य का पार्थक्य किया जाय यह जरूरी था। अतएव आगमों का जो प्रथम वर्गीकरण हुआ वह अंग और अंगबाह्य इस आधार पर हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुयोग ( सू० ३ ) के प्रारम्भ में 'अंगपविट्ट' ( अंगप्रविष्ट ) और 'अंगबाहिर' ( अंगबाह्य ) ऐसे श्रुत के भेद किये गये हैं। नन्दी ( सू० ४४ ) में भी ऐसे ही भेद हैं। अंगबाहिर के लिये वहाँ 'अंगपविट्ट' शब्द भी प्रयुक्त है (सू० ४४ के अंत में)। अन्यत्र नन्दी ( सू० ३८ ) में ही 'अंगपविट्ट' और 'अंगपविट्ट'—ऐसे दो भेद किये गए हैं।

इन अंगबाह्य ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'प्रकीर्णक' भी थी, ऐसा नन्दीसूत्र से प्रतीत होता है।<sup>१</sup> अंगशब्द को ध्यान में रख कर अंगबाह्य ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'उपांग' भी थी, ऐसा निरयावलिया सूत्र के प्रारंभिक उल्लेख से प्रतीत होता है और उससे यह भी प्रतीत होता है कि कोई एक समय ऐसा था जब ये निरयावलियादि पाँच ही उपांग माने जाते होंगे।

समवायांग, नन्दी, अनुयोग तथा पाक्षिकसूत्र के समय तक समग्र आगम के मुख्य विभाग दो ही थे—अंग और अंगबाह्य। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रभाष्य<sup>२</sup> से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे ही विभाग प्रचलित थे।

स्थानांग सूत्र (२७७) में जिन चार प्रज्ञप्तियों को अंगबाह्य कहा गया है वे हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। इनमें से जंबू-

१. "एवमाश्वाहं चउरासीई पइन्नगसइहस्साई.....अइवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाप.....चउव्विहाप बुद्धीप उववेआ तस्स तत्तिआई पइयणगसइहस्साई....."—नन्दी, सू० ४४.

२. तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, १. २०.

द्वीपप्रज्ञप्ति को छोड़ कर शेष तीन कालिक हैं—ऐसा भी उल्लेख स्थानांग ( १५२ ) में है ।

अंग के अतिरिक्त आचारप्रकरूप ( निशीथ ) ( स्थानांग, सू० ४३३; समवायांग, २८ ), आचारदशा ( दशाश्रुतस्कंध ), बन्धदशा, द्विगृद्धिदशा, दीर्घदशा और संक्षेपितदशा का भी स्थानांग ( ७५५ ) में उल्लेख है । किन्तु बन्धदशादि शास्त्र अनुपलब्ध हैं । टीकाकार के समय में भी यही स्थिति थी जिससे उनको कहना पड़ा कि ये कौन ग्रन्थ हैं, हम नहीं जानते । समवायांग में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों के नाम दिये हैं ( सम. ३६ ) तथा दशा-करूप-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है । किन्तु उनकी छेदसंज्ञा नहीं दी गई है ।

प्रज्ञप्ति का एक वर्ग अलग होगा ऐसा स्थानांग से पता चलता है । कुवलयमाला ( पृ० ३४ ) में अंगबाह्य में प्रज्ञापना के अतिरिक्त दो प्रज्ञप्तियों का उल्लेख है ।

‘छेद’ संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारंभ में कौन से शास्त्र संमिलित थे—यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । किन्तु आवश्यकनियुक्ति में सर्वप्रथम ‘छेदसुत्त’ का उल्लेख मिलता है । उससे प्राचीन उल्लेख अभी तक मिला नहीं है ।<sup>१</sup> इससे अभी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आवश्यकनियुक्ति के समय में छेदसुत्त का वर्ग पृथक् हो गया था ।

कुवलयमाला जो ७-३-७७६ ई. में समाप्त हुई उसमें जिन नाना ग्रन्थों और विषयों का श्रमण चिंतन करते थे उनके कुछ नाम गिनाये हैं ।<sup>२</sup> उसमें सर्वप्रथम आचार से लेकर दृष्टिवादपर्यंत<sup>३</sup> अंगों के नाम हैं । तदनन्तर प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति का उल्लेख है । तदनन्तर ये गाथाएँ हैं—

अण्णाइ य गणहरभासियाइं सामण्णकेवलिकयाइं ।  
पच्चैयसयंबुद्धेहिं विरइयाइं गुणेंति महरिसिणो ॥  
कत्थइ पंचावयवं दसह च्चिय साहणं परूवेंति ।  
पच्चस्खमरगुमारापमाणचउक्कयं च अण्णे विचारेंति ॥

१. आव० नि० ७७७ ; केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ३६ में उद्धृत ।

२. कुवलयमाला, पृ० ३४.

३. विपाक का नाम इनमें नहीं आता, यह स्वयं लेखक की या लिपिकार की असांधानी के कारण है ।

भवजलहिजाणवत्तं पेम्ममहारायणियलणिह्लणं ।  
 कम्मट्ठगंठिवज्जं अण्णे धम्मं परिकहेति ॥  
 मोहंधयाररविणो परवायकुरंगदरियकेसरिणो ।  
 णयसयखरणहरिस्से अण्णे अह वाइणो तत्थ ॥  
 लोयालोयपयासं दूरंतरसण्हवत्थुपज्जोयं ।  
 केवलिसुत्तणिबद्धं णिमित्तमण्णे विचारंति ॥  
 णाणाजीवुप्पत्ती सुवण्णमणिरयगधाउसंज्जोयं ॥  
 जाणंति जणियज्जोणी जोणीणं पाहुडं अण्णे ॥  
 ललियवयगत्थसारं सन्वालंकारणिव्वडियसोहं ।  
 अमयप्पवाहमहुरं अण्णे कव्वं विइंतंति ॥  
 बहुतंतमंतविज्जावियाणया सिद्धज्जोयजोइसिया ।  
 अच्छंति अग्गुणेंता अवरे सिद्धंतसाराइं ॥

कुवलयमालागत इस विवरण में एक तो यह बात ध्यान देने योग्य है कि अंग के बाद अंगबाह्यों का उल्लेख है। उनमें अंगों के अलावा जिन आगमों के नाम हैं वे मात्र प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञति और सूर्यप्रज्ञति के हैं। इसके बाद गणधर, सामान्यकेवली, प्रत्येकबुद्ध और स्वयंसंबुद्ध के द्वारा भाषित या विरचित ग्रन्थों का सामान्य तौर पर उल्लेख है। वे कौन थे इसका नामपूर्वक उल्लेख नहीं है। दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि इसमें दशपूर्वोक्त ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है। गणधर का उल्लेख होने से श्रुतकेवली का उल्लेख सूचित होता है। दूसरी ओर कर्म, मन्त्र, तन्त्र, निमित्त आदि विद्याओं के विषय में उल्लेख है और योनिपाहुड का नामपूर्वक उल्लेख है। काव्यों का चिंतन भी मुनि करते थे यह भी बताया है। निमित्त को केवलीसूत्रनिबद्ध कहा गया है। कुवलयमाला के दूसरे उल्लेख से यह फलित होता है कि लेखक के मन में केवल आगम ग्रन्थों का ही उल्लेख करना अभीष्ट नहीं है। प्रज्ञापना आदि तीन अंगबाह्य ग्रन्थों का जो नामोल्लेख है यह अंगबाह्यों में उनकी विशेष प्रतिष्ठा का द्योतक है। धवला<sup>१</sup> जो द. १०. ८१६ ई० को समाप्त हुई उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस काल तक आगम के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ऐसे दो विभाग थे।

किन्तु सांप्रतिकाल में श्वेताम्बरों में आगमों का जो वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह कब शुरू हुआ, या किसने शुरू किया—यह जानने का निश्चित साधन उपस्थित नहीं है।

१. धवला, पुस्तक १. पृ० ६६.

श्रीचन्द्र आचार्य (लेखनकाल ई० १११२ से प्रारंभ) ने 'सुखबोधा सामाचारी' की रचना की है। उसमें उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का जो वर्णन किया है उससे पता चलता है कि उनके कालतक अंग और उपांग की व्यवस्था अर्थात् अमुक अंग का अमुक उपांग ऐसी व्यवस्था बन चुकी थी। पठनक्रम में सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र, तदनंतर दशैकालिक और उत्तराध्ययन के बाद आचार आदि अंग पढ़े जाते थे। सभी अंग एक ही साथ क्रम से पढ़े जाते थे ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रथम चार आचारांग से समवायांग तक पढ़ने के बाद निसीह, जीयकप्प, पंचकप्प, कप्प, ववहार और दसा<sup>१</sup> पढ़े जाते थे। निसीह आदि की यहाँ छेदसंज्ञा का उल्लेख नहीं है किन्तु इन सबको एक साथ रखा है यह उनके एक वर्ग की सूचना तो देता ही है। इन छेदग्रन्थों के अध्ययन के बाद नायधम्मकहा (छठा अंग), उवासगदसा, अंतगडदसा, अरगुत्तरोववाइयदसा, पण्हा-वागरण और विपाक—इन अंगों की वाचना होती थी। विवाग के बाद एक पंक्ति में भगवई का उल्लेख है किन्तु यह प्रक्षिप्त हो—ऐसा लगता है क्योंकि वहाँ कुछ भी विवरण नहीं है (पृ० ३१)। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर "गणिज्जोगेसु य पंचमंगं विवाहपन्नत्ति" (पृ० ३१) इन शब्दों से शुरू होता है। विपाक के बाद उवांग की वाचना का उल्लेख है। वह इस प्रकार है—उववाई, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरपन्नत्ति, जंबूदीवपन्नत्ति, चन्दपन्नत्ति। तीन पन्नत्तियों के विषय में उल्लेख है कि 'तत्रो पन्नत्तित्रो कालिआत्रो संघट्टं च कीरइ'—(पृ. ३२)। तात्पर्य यह जान पड़ता है कि इन तीनों की तत्-तत् अंग की वाचना के साथ भी वाचना दी जा सकती है। शेष पाँच अंगों के लिए लिखा है कि "सेसाण पंचपहमंगाणं मयंतरेण निरयावलिया सुयक्खंधो उवंगं।" (पृ. ३२)। इस निरया-वलिया के पाँच वर्ग हैं—निरयावलिया, कप्पवडिसिया, पुप्फिया, पुप्फवूलिया और वण्हीदसा। इसके बाद 'इयाणि पइन्नगा' (पृ० ३२) इस उल्लेख के साथ नंदी, अनुयोगद्वार, देविन्दत्थअ, तंदुलवेयालिय, चंदावेज्जअ, आउरपच्चक्खारा और गणिविजा का उल्लेख करके 'एवमाइया' लिखा है। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रकीर्णक में उल्लिखित के अलावा अन्य भी थे। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि नन्दी और अनुयोगद्वार को सांप्रतकाल में प्रकीर्णक से पृथक् गिना जाता है किन्तु यहाँ उनका समावेश प्रकीर्णक में है। इस प्रकरण के

१. सुखबोधा सामाचारी में "निसीहं सम्मत्तं" ऐसा उल्लेख है और तदनन्तर जीयकप्प आदि से संबंधित पाठ के अंत में "कप्पववहारदसासुयक्खंधो सम्मतो"—ऐसा उल्लेख है। अतएव जीयकप्प और पंचकप्प की स्थिति संदिग्ध बनती है—पृ० ३०.

अंत में 'बाहिरजोगविहिसमत्तो' ऐसा लिखा है उससे यह भी पता चलता है कि उपांग और प्रकीर्णक दोनों को सामान्य संज्ञा या वर्ग अंगबाह्य था। इसके बाद भगवती की वाचना का प्रसंग उठाया है। यह भगवती का महत्त्व सूचित करता है। भगवती के बाद महानिशीह का उल्लेख है और उसका उल्लेख अन्य निशीहादि छेद के साथ नहीं है—इससे सूचित होता है कि वह बाद की रचना है। मतान्तर देने के बाद अंत में एक गाथा दी है जिससे सूचना मिलती है कि किस अंग का कौन उपांग है—

“उ० रा० जी० पञ्चवणा सू० जं० चं० नि० क० पु० वल्लिदसनामा ।

आयाराइउवंगा

नायन्वा

आरागुपुव्वीए

॥”

—सुखबोधा सामाचारी, पृ० ३४.

श्रीचन्द्र के इस विवरण से इतना तो फलित होता है कि उनके समय तक अंग उपांग, प्रकीर्णक इतने नाम तो निश्चित हो चुके थे। उपांगों में कौन ग्रन्थ समाविष्ट हैं यह भी निश्चित हो चुका था जो सांप्रतकाल में भी वैसा ही है। प्रकीर्णक वर्ग में नंदी-अनुयोगद्वार शामिल था जो बाद में जाकर पृथक् हो गया। मूलसंज्ञा किसी की भी नहीं मिलती जो आगे जाकर आवश्यकदि को मिली है।

जिनप्रभ ने अपने 'सिद्धान्तागमस्तव' में आगमों का नामपूर्वक स्तवन किया है किन्तु वर्गीकरण नहीं किया। उनका स्तवनक्रम इस प्रकार है—आवश्यक, विशेषावश्यक, दशवैकालिक, ओघनियुक्ति, पिण्डनियुक्ति, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, आचारांग आदि ग्यारह अंग ( इनमें कुछ को अंग संज्ञा दी गई है), ओपपातिक आदि १२ (इनमें किसी को भी उपांग नहीं कहा है), मरणसमाधि आदि १३ (इनमें किसी को भी प्रकीर्णक नहीं कहा है), निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पंचकल्प, जीतकल्प, महानिशीथ—इतने नामों के बाद नियुक्ति आदि टीकाओं का स्तवन है। तदनंतर दृष्टिवाद और अन्य कालिक, उत्कालिक ग्रन्थों की स्तुति की गई है। तदनंतर अंगविद्या, विशेषणवती, संमति, नयचक्रवाल, तत्त्वार्थ, ज्योतिष्करंड, सिद्धप्राभृत, वसुदेवहिंडी, कर्मप्रकृति आदि प्रकरण ग्रन्थों का उल्लेख है। इस सूची से एक बात तो सिद्ध होती है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गों के नाम नहीं दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम तो बन गया होगा। इसीलिए हम मूलसूत्रों और तूलिकासूत्रों के नाम एक साथ ही पाते हैं। यही बात अंग, उपांग, छेद और प्रकीर्णक में भी लागू होती है।

आचार्य उमास्वाति भाष्य में अंग के साथ उपांग<sup>१</sup> शब्द का निर्देश करते हैं और अंगबाह्य ग्रन्थ उपांगशब्द से उन्हें अभिप्रेत है। आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य की जो सूची दी है वह भी जिनप्रभकी सूची का पूर्वरूप है। उसमें प्रथम सामायिकादि छः आवश्यकों का उल्लेख है, तदनंतर “दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं, ऋषिभाषितान्येवमादि” —इस प्रकार उल्लेख है। इसमें जो आवश्यकतादि मूलसूत्रों का तथा दशा आदि छेदग्रंथों का एक साथ निर्देश है वह उनके वर्गीकरण की पूर्वसूचना देता ही है। धवला में १४ अंग-बाह्यों की जो गणना की गई है उनमें भी प्रथम छः आवश्यकों का निर्देश है, तदनंतर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का और तदनंतर कल्पव्यवहार, कल्पा-कल्पिय, महाकल्पिय, पुंडरीय, महापुंडरीय और निसीह का निर्देश है। इसमें केवल पुंडरीय, महापुंडरीय का उल्लेख ऐसा है जो निसीह को अन्य छेद से पृथक् कर रहा है। अन्यथा यह भी मूल और छेद के वर्गीकरण की सूचना दे ही रहा है।

आचार्य जिनप्रभ ने ई. १३०६ में विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ की समाप्ति की है। उसमें भी ( पृ० ४८ से ) उन्होंने आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। क्रम से निम्न ५१ ग्रन्थों का उसमें उल्लेख है—१ आवश्यक<sup>२</sup>, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूयगडंग, ६ ठांग, ७ समवायांग, ८ निसीह, ९-११ दसा-कल्प-व्यवहार<sup>३</sup>, १२ पंचकल्प, १३ जीयकल्प, १४ विवाहपन्नति, १५ नायाधम्मकहा, १६ उवासगदसा, १७ अंतगडदसा, १८ अनुत्तरोववाइयदसा, १९ पण्हावागरण, २० विवागसुय ( दिट्ठिवाओ दुवाल-समंगं तं च वोच्छिन्नं ) ( पृ० ५६ )। इसके बाद यह पाठ प्रासंगिक है—“इत्थं य दिक्खापरियाएण त्वासो आगारपकप्पं वहिजा वाइजा य । एवं चउवासो सूयगडं । पंचवासो दसा-कल्प-व्यवहारे । अट्टवासो ठाण-समवाए । दसवासो भगवई । इक्कारसवासो खुड्डियाविमाणाइपंचज्झयरो । बारसवासो अरुणोववायाइपंचज्झयरो । तेरसवासो उट्टाणसुयाइचउरज्झयरो । चउदसाइअट्टारसंतवासो कमेण कमेण

१. “अन्यथा हि अनिबद्धमङ्गोपाङ्गशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्” —तत्त्वार्थ-भाष्य, १. २०.

२. “ओहनिज्जुत्ती आवस्सयं चैव अणुपविट्ठा” —विधिमार्गप्रपा, पृ० ४९.

३. दसा-कल्प-व्यवहार का एक श्रुतस्कंध है यह सामान्य मान्यता है। किन्तु किसी के मत से कल्प-व्यवहार का एक स्कंध है—वही पृ० ५२.

आसीविसभावणा-दिट्टिविसभावणा-चारणभावणा-महासुमिणभावणा-तेयनिसग्गे ।  
एगुणवीसवासो दिट्ठीवायं संपुन्नवीसवासो सव्वसुत्तजोगो त्ति” ॥ (पृ० ५६) ।

इसके बाद “इयाणि उवंगा” ऐसा लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका निर्देश इस प्रकार किया है—

अंग	उपांग
१ आचार	२१ ओवाइय
२ सूयगड	२२ रायपसेणइय
३ ठाग	२३ जीवाभिगम
४ समवाय	२४ पणवणा
५ भगवई	२५ सूरपण्णत्ति
६ नाया(धम्म)	२६ जंबुद्धीवपण्णत्ति
७ उवासगदसा	२७ चंदपण्णत्ति
८-१२ अंतगडदसादि	२८-३२ निरयावलिया सुयक्खंध ( २८ 'कप्पिया' २९ कप्पवडिसिया, ३० पुप्फिया, ३१ पुप्फचूलिया, ३२ वण्हदसा )

आ० जिनप्रभ ने मतान्तर का भी उल्लेख किया है कि “अग्गे पुण चंदपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति च भगवईउवंगे भगंति । तेसि मएण उवासगदसाईएण पंचण्हमंगाणं उवंगं निरयावलियासुयक्खंधो”—पृ० ५७.

इस मत का उत्थान इस कारण से हुआ होगा कि जब ११ अंग उपलब्ध हैं और बारहवां अंग उपलब्ध ही नहीं, तो उसके उपांग की अनावश्यकता है । अतएव भगवती के दो उपांग मान कर ग्यारह अंग और बारह उपांग की संगति बैठाने का यह प्रयत्न है । अंत में श्रीचन्द्र की सुखबोधा सामाचारी में प्राप्त गाथा उद्धृत करके ‘उवंगविही’ की समाप्ति की है ।

१. श्रीचंद्र की सुखबोधा सामाचारी में इसके स्थान में निरयावलिया का निर्देश है ।

तदनन्तर 'संपयं पङ्कग'—इस उल्लेख के साथ ३३ नदी, ३४ अनुयोगदाराई, ३५ देविदत्थय, ३६ तंदुलवेयालिय, ३७ मरणसमाहि, ३८ महापञ्चक्खारा, ३९ आउरपञ्चक्खारा, ४० संथारय, ४१ चन्दाविज्भय, ४२ भक्तपरिण्णा, ४३ चउसरण, ४४ वीरत्थय, ४५ गरिगविजा, ४६ दीवसागरपण्णत्ति, ४७ संगहरी, ४८ गच्छायार, ४९ दीवसागरपण्णत्ति, ५० इसिभासियाई—इनका उल्लेख करके 'पङ्कगविही' की समाप्ति की है। इससे सूचित होता है कि इनके मत में १८ प्रकीर्णक थे। अन्त में महानिसीह का उल्लेख होने से कुल ५१ ग्रंथों का जिनप्रभ ने उल्लेख किया है।<sup>१</sup>

जिनप्रभ ने संग्रहरूप जोगविहाण नामक गाथाबद्ध प्रकरण का भी उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिया है—पृ० ६०। इस प्रकरण में भी संख्यांक देकर अंगों के नाम दिये गये हैं। योगविधिक्रम में आवस्सय और दसयालिय का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और ओघ और पिण्डनियुक्ति का समावेश इन्हीं में होता है—ऐसी सूचना भी दी है ( गाथा ७, पृ० ५८ )। तदनन्तर नन्दी और अनुयोग का उल्लेख करके उत्तराध्ययन का निर्देश किया है। इसमें भी समवाय अंग के बाद दसा-कप्प-ववहार-निसीह का उल्लेख करके इन्हीं की 'छेदसूत्र' ऐसी संज्ञा भी दी है—गाथा—२२, पृ० ५९। तदनन्तर जीयकप्प और पंचकप्प (पणकप्प) का उल्लेख होने से प्रकरणकार के समय तक संभव है ये छेदसूत्र के वर्ग में संमिलित न किये गए हों। पंचकप्प के बाद ओवाइय आदि चार उपांगों की बात कह कर विवाहपण्णत्ति से लेकर विवाग अंगों का उल्लेख है। तदनन्तर चार प्रज्ञप्ति—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि निर्दिष्ट हैं। तदनन्तर निरयावलिया का उल्लेख करके उपांगदर्शक पूर्वोक्त गाथा (नं ६०) निर्दिष्ट है। तदनन्तर देविदत्थय आदि प्रकीर्णक की तपस्या का निर्देश कर के इसिभासिय का उल्लेख है। यह भी मत उल्लिखित है जिसके अनुसार इसिभासिय का समावेश उत्तराध्ययन में हो जाता है (गाथा ६२, पृ० ६२)। अन्त में सामाचारीविषयक परम्परा भेद को देखकर शंका नहीं करनी चाहिए यह भी उपदेश है—गाथा ६६.

जिनप्रभ के समय तक सांप्रतकाल में प्रसिद्ध वर्गीकरण स्थिर हो गया था इसका पता 'वायणाविही' के उत्थानमें उन्होंने जो वाक्य दिया उससे लगता है—“एवं कप्पत्तिप्पाइविहिपुरस्सरं साहू समाणियसयलजोगविही मूलगन्थ-नन्दि-अणुओगदार-उत्तरज्झयण-इसिभासिय-अंग-उवंग-पइन्नय-छेयगन्थआगमे

१. गच्छायार के बाद—'इच्चाइ पङ्कगगाण' ऐसा उल्लेख होने से कुछ अन्य भी प्रकीर्णक होंगे जिनका उल्लेख नामपूर्वक नहीं किया गया—पृ० ५८.



वाइज्जा”—पृ० ६४ । इससे यह भी पता लगता है कि ‘मूल’ में आवश्यक और दशवैकालिक ये दो ही शामिल थे । इस सूची में ‘मूलग्रन्थ’ ऐसा उल्लेख है किन्तु पृथक् रूपसे आवश्यक और दशवैकालिक का उल्लेख नहीं है—इसीसे इसकी सूचना मिलती है ।

जिनप्रभ ने अपने सिद्धान्तागमस्तव में वर्गों के नामकी सूचना नहीं दी किन्तु विधिमागंप्रपा में दी है—इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनकी ही यह सूझ हो, जब उन्होंने विधिमागंप्रपा लिखी । जिनप्रभ का लेखनकाल सुदीर्घ था यह उनके विविधतीर्थंकरूप की रचना से पता लगता है । इसकी रचना उन्होंने ई० १२७० में शुरू की और ई० १३३२ में इसे पूर्ण किया<sup>१</sup> इसी बीच उन्होंने १३०६ ई० में विधिमागंप्रपा लिखी है । स्तवन संभवतः इससे प्राचीन होगा ।

### उपलब्ध आगमों और उनकी टीकाओं का परिमाणः

समवाय और नन्दीसूत्र में अंगों की जो पदसंख्या दी है उसमें पद से क्या अभिप्रेत है यह ठोक रूप से ज्ञात नहीं होता । और उपलब्ध आगमों से पदसंख्या का मेल भी नहीं है । दिगंबर षट्खंडागम में गणित के आधार पर स्पष्टीकरण करने का जो प्रयत्न है<sup>२</sup> वह भी कार्पनिक ही है, तथ्य के साथ उसका कोई संबंध नहीं देखता ।

अतएव उपलब्ध आगमों का क्या परिमाण है इसकी चर्चा की जाती है । ये संख्याएँ हस्तप्रतियों में ग्रन्थाग्ररूप से निर्दिष्ट हुई हैं । उसका तात्पर्य होता है—३२ अक्षरों के श्लोकों से । लिपिकार अपना लेखन-पारिश्रमिक लेने के लिए गिनकर प्रायः अन्त में यह संख्या देते हैं । कभी स्वयं ग्रन्थकार भी इस संख्या का निर्देश करते हैं ।<sup>३</sup> यहां दी जानेवाली संख्याएँ, भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के बोल्ड्युम १७ के १-३ भागों में आगमों और उनकी टीकाओं की हस्तप्रतियों की जो सूची छपी है उसके आधार से हैं—इससे दो कार्य सिद्ध होंगे—श्लोकसंख्या के बोध के अलावा किस आगम की कितनी टीकाएँ लिखी गईं इसका भी पता लगेगा ।

१. जै० सा० सं० ३०, पृ० ४१६.

२. जै० सा० ३० पूर्वपीठिका, पृ० ६२१ ; षट्खंडागम, पृ० १३, पृ० २४७-२४४.

३. कभी-कभी धूर्त लिपिकार संख्या गलत भी लिख देते हैं ।

१. अंग ( १ ) आचारांग २६४४, २६५४

- „ नियुक्ति ४५०
- „ चूर्णि ८७५०
- „ वृत्ति १२३००
- „ दीपिका (१) ६०००, १००००, १५०००
- „ „ (२) ६०००
- „ अवचूरि
- „ पर्याय

(२) सूत्रकृतांग २१०० (प्रथम श्रुतस्कन्ध की १०००)

- „ नियुक्ति २०८ गाथा
- „ नियुक्ति मूल के साथ २५८०
- „ नियुक्ति } १२८५०, १३०००, १३३२५,
- „ वृत्ति } १४०००
- „ हर्षकुलकृत दीपिका (१) ६६००, ८६००, ७१००,  
७००० ( यह संख्या मूल के साथ  
की है )
- „ साधुरंगकृत दीपिका १३४१६
- „ पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक (टबा) ८०००
- „ चूर्णि
- „ पर्याय

(३) स्थानांग ३७७०, ३७५०

- „ टीका ( अभयदेव ) १४२५०, १४५००
- „ सटीक १८०००
- „ दीपिका (नागर्षिगणि) सह १८०००
- „ बालावबोध
- „ स्तबक १६०००
- „ पर्याय
- „ बोल

(४) समवाय १६६७, १७६७

- „ वृत्ति ३५७५, ३७००
- „ पर्याय

- (५) भगवती १६०००, १५८००  
,, वृत्ति १८६१६, १६७७६  
,, अक्षरवृत्ति ३११४  
,, पर्याय
- (६) ज्ञाताधर्म ५५००, ६०००, ५२५०, ५६२७,  
५७५०, ६०००  
,, वृत्ति ३७००, ३८१५, ४७००  
,, सवृत्ति ६७५५  
बालावबोधसह १८२००
- (७) उपासकदशा ६१२, ८७२, ८१२  
,, वृत्ति ६४४
- (८) अन्तकृत ६००  
,, वृत्ति (उपा० अन्त० अनुत्त०) १३००  
,, स्तवक
- (९) अनुत्तरौपपातिक १६२  
,, वृत्ति ४३७
- (१०) प्रश्नव्याकरण १२५०  
,, वृत्ति ४६३०, ५६३०, ४८००, ५०१६  
,, स्तवक  
,, पर्याय
- (११) विपाक १२५०  
,, वृत्ति १०००, ६०६, ११६७  
,, स्तवक
२. उपांग (१) औपपातिक ११६७, १५००  
,, वृत्ति ३४५५, ३१३५, ३१२५
- (२) राजप्रश्रीय २५०६, २०७६, २१२०  
,, वृत्ति ३६५०, ३७००, ३७६८

(३) जीवाभिगम ४७००, ५२००

- „ वृत्ति १४०००
- „ स्तबक
- „ पर्याय

(४) प्रज्ञापना ७६८६, ८१००, ७७८७

- „ टीका १४०००, १५०००
- „ प्रदेशव्याख्या
- „ संग्रहणी
- „ पर्याय

(५) सूर्यप्रज्ञप्ति

- „ टीका

(६) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ४४५८, ४१४६

- „ टीका (हीरो) १४२५२
- „ „ (शान्ति०)
- टबासह १५०००
- चूर्णि (करण) २०२३, १८२३, १८६०
- „ विवृति (ब्रह्म)

(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति २०५८

- „ विवरण ६५००

(८-१२) निरयावलिका (५) ११०६

- „ टीका ६०५, ६५०, ७३७, ६३७
- „ टबा ११००
- „ पर्याय
- „ बालावबोध

३. प्रकीर्णक ( १ ) चतुःशरण गाथा ६३

- „ अवचूरि
- „ टबा
- „ विषमपद

( २ ) आतुरप्रत्याख्यान गाथा ८४

- „ विवरण ८५०
- „ टबा

- ( ३ ) भक्तपरिज्ञा गा० १७३,  
ग्रन्थाग्र १७१  
,, अक्चूरि
- ( ४ ) संस्तारक गाथा १२१  
,, विवरण  
,, अक्चूरि  
,, बालावबोध
- ( ५ ) तंदुलवैचारिक ४००  
,, बालावबोध
- ( ६ ) चन्द्रावेध्यक गाथा १७४,  
गा० १७५
- ( ७ ) देवेन्द्रस्तव गा० ३०७, गा० २६२
- ( ८ ) गणिविद्या गा० ८६, गा० ८५
- ( ९ ) महाप्रत्याख्यान गा० १४३, गा० १४२
- ( १० ) वीरस्तव गा० ४३, गा० ४२
- ( ११ ) अंगचूळिका
- ( १२ ) अंगविद्या ६०००
- ( १३ ) अजीवकल्प गाथा ४४
- ( १४ ) आराधनापताका ६६०  
(रचना सं. १०७८)
- ( १५ ) कवचद्वार गा० १२६
- ( १६ ) गच्छाचार १६७  
विवृति ५८५० (विजयविमल)  
,, वानरर्षि  
,, अक्चूरि
- ( १७ ) जंबूस्वामिस्वाध्याय  
,, टबा  
,, ,, (पद्मसुंदर)
- ( १८ ) ज्योतिष्करंडक  
,, टीका ५५००

- (१९) तीर्थोद्गालिक गा० १२५१, गा० १२३३.  
ग्रन्थाग्र १५६५
- (२०) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
- (२१) पर्यन्ताराधना ७४  
" बालावबोध २४५  
" ३००
- (२२) पिंडविशुद्धि  
" टीका ४४००  
" सुबोधा २८००  
" दीपिका ७०३  
" बालावबोध  
" अवचूर्णि
- (२३) मरणविधि
- (२४) योनिप्राभृत
- (२५) वंकचूलिका
- (२६) सारावली
- (२७) सिद्धप्राभृत गाथा १२१

४. छेदसूत्र (१) निशीथ ८१२  
" नियुक्ति-भाष्य गा० ६४३६  
ग्रन्थाग्र ८४००  
" टिप्पणक ७७०५ (?)  
" चूर्णि ( प्रथम उ० ) ५३६५  
" विशोद्देशकव्या०  
" पर्याय
- (२) महानिशीथ ४५४४  
" टबा
- (३) व्यवहार  
" नियुक्ति-भाष्य ५२००,  
गा० ४६२६

- ” टीका प्रथम खण्ड ( उ० १-३ ) १६८५६  
” पीठिका २३५५  
” पीठिका और उ० १ १०८७८  
” उ० ३ २५६५  
” उ० १० ४१३३  
” उ० १—१० ३७६२५  
” द्वितीय खण्ड १०३६६  
” चूर्णि १०३६०  
” पीठिका २०००  
” पर्याय

(४) दशाश्रुत १३८०

- ” नियुक्ति गा० १५४  
” चूर्णि २२२५, ४३२१, २१६१, २३२५ (?)  
” टीका (ब्रह्म) ५१५२  
” टिप्पणक  
” पर्याय

कल्पसूत्र ( दशाश्रुत का अंश ) १२१६

- ” संदेहविषोषधि (जिनप्रभ) २२६८  
” अवचूर्णि  
” किरणावली (धर्मदास) ८०१४ (?)  
” प्रदीपिका (संघविजय) ३२००  
” दीपिका (जयविजय) ३४३२  
” कल्पद्रुमकलिका ( लक्ष्मीवल्लभ )  
” अवचूरि  
” टिप्पणक  
” वाचनिकाम्नाय  
” टबा  
” नियुक्ति—संदेहविषोषधिसह ३०४१  
” वृत्ति ( उदयसागर )  
” टिप्पण ( पृथ्वीचन्द्र )  
” दुर्गपदनिरुक्ति ४१८

- „ कल्पान्तर्वच्य ( कल्पसमर्थन ) २७००
- „ पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यान
- „ पर्युषणपर्वविचार
- „ मंजरी ( रत्नसागर ) ५६६५ ( ? )
- „ लता ( समयसुन्दर ) ८०००
- „ सुबोधिका ( विनयविजय ) ५४००
- „ कौमुदी ( शांतिसागर ) ३७०७, ६५३८ ( ? )
- „ ज्ञानदीपिका ( ज्ञानविजय )

( ५ ) बृहत्कल्प

४००, ४७३

- „ लघुभाष्य सटीक ( पीठिका ) ५६००
- „ ७० १-२ ६५००
- „ „ २-४ १२५४०
- „ लघुभाष्य ६६००
- „ टबा
- „ चूर्णि १४०००, १६०००
- „ विशेषचूर्णि ११०००
- „ बृहद्भाष्य ८६००
- „ पर्याय

( ६ ) पंचकल्प

- „ चूर्णि ३१३५
- „ बृहद्भाष्य ३१८५ ( गा० २५७४ )
- „ पर्याय

( ७ ) जीतकल्प

गा० १०३, गा० १०५

- „ विवरणलव ( श्रीतिलक )
- „ टीका ६७७३
- „ चूर्णि ( सिद्धसेन )
- „ पर्याय

( ८ ) यतिजीतकल्प

- „ विवृत्ति ५७००

५—चूलिका सूत्र ( १ ) नन्दी ७००

- „ वृत्तिसह ८५३५
- „ चूर्णि १४००



( ४६ )

- „ विवरण ( हारि० ) २३३६
- „ „ ( मलय० ) ७७३२, ७८३२
- „ दुर्गापदव्याख्या ( श्रीचन्द्र )
- „ पर्याय

स्थविरावलि ( नंदीगता )

- „ अवचूरि
- „ टबा
- „ बालावबोध

( २ ) अनुयोगद्वार १३६६, १६०४, १८००, २००५

- „ वृत्ति ( हेम ) ५७००, ६०००
- „ वार्तिक

६—मूलसूत्र ( १ ) उत्तराध्ययन २०००, २३००, २१००

- „ सुखबोधा (देवेन्द्र = नेमिचन्द्र) १४६१६, १४२००, १२०००, १४४२७, १४४५२, १४०००
- „ अवचूरि
- „ वृत्ति ( कीर्तिवल्लभ ) ८२६०
- „ अक्षरायं
- „ „ लवलेश ६५६८
- „ वृत्ति ( भावविजय ) १४२५५
- „ दीपिका ( लक्ष्मीवल्लभ )
- „ दीपिका ८६७०
- „ बालावबोध ६२५०
- „ टबा ७००० ( पार्श्वचंद्र )
- „ कथा ५००० ( पद्मसागर ), ४५००
- „ नियुक्ति ६०४
- „ बृहद्वृत्ति ( शांतिसूरि ) १८०००
- „ बृहद्वृत्तिपर्याय
- „ अवचूरिणि ( ज्ञानसागर ) ५२५०

( २ ) दशवैकालिक ७००

- „ नियुक्ति ५५०
- „ वृत्ति ( हारि० )

( ५० )

- ” वृत्ति अत्रचूरि  
” ” पर्याय  
” टीका ( सुमति ) २६५०  
” टीका ३०००  
” टीका २८००  
” अत्रचूरि २१४३  
” टबा ( कनकसुंदर ) १५००

( ३ ) आवश्यक

- ” चैत्यबन्दन-ललितविस्तरा १२७०  
” ” पंजिका  
” टबा ( देवकुशल ) ३२५०  
” वृत्ति ( तरुणप्रभ )  
” अत्रचूरि ( कुलमंडन )  
” बालावबोध  
” टबा  
” निर्युक्ति २५७२, ३५५०, ३१००, ३३७५, ३१५०  
” ” पीठिका-बालावबोध  
” ” शिष्यहिता ( हरि० ) १२३४३  
” ” विवृति ( मलय० )  
” ” लघुवृत्ति ( तिलकाचार्य )  
” निर्युक्ति-अत्रचूरि ( ज्ञानसागर ) ६००५  
” ” बालावबोध  
” ” दीपिका  
” ” लघुवृत्ति १३०००  
” ” प्रदेशन्याख्या ( हेमचन्द्र ) ४६०० (?)  
” ” विशेषावश्यकभाष्य गा० ४३१४,  
गा० ३६७२, ग्रन्थाम्न ५०००,  
गा० ४३३६  
” ” ” वृत्ति स्वोपज्ञ  
” ” ” वृत्ति ( कोट्याचार्य ) १३७००  
” ” ” वृत्ति ( हेमचन्द्र ) २८०००, २८६७६

## (४) पिण्डनिर्युक्ति ७६६१

- „ शिष्यहिता (वीरगणि = समुद्रघोष)  
 „ वृत्ति (माणिक्यशेखर)  
 „ अवचूरि (क्षमारत्न)

(५) ओघनिर्युक्ति १४६०, गा० ११६२, गा० ११५४,  
गा० ११६५, गा० ११६४

- „ टीका (द्रोण०) सह ७३८५, ८३८५  
 „ टीका (द्रोण०) ६५४५  
 „ अववृणि (ज्ञानसागर) ३४००

## (६) पाक्षिकसूत्र

- „ वृत्ति (यशोदेव) २७००  
 „ अवचूरि ६२१, १०००

आगम और उनकी टीकाओं के परिमाण के उक्त निर्देश से यह पता चलता है कि आगमसाहित्य कितना विस्तृत है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्पसूत्र तथा आवश्यकसूत्र—इनकी टीकाओं की सूची भी काफी लम्बी है। सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र पर। इससे इन सूत्रों का विशेष पठन-पाठन सूचित होता है। जब से पर्युषण में संघसमक्ष कल्पसूत्र के वाचन की प्रतिष्ठा हुई है, इस सूत्र का अत्यधिक प्रचार हुआ है। आवश्यक तो नित्य-क्रिया का ग्रन्थ होने से उसपर अधिक टीकाएँ लिखी जायं यह स्वाभाविक है।

**आगमों का काल :**

आधुनिक विदेशी विद्वानों ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्धि ने पुस्तक-लेखन करके आगमों के सुरक्षा-कार्य को आगे बढ़ाया किन्तु वे, जैसा कि कुछ आचार्य भी मानते हैं, उनके कर्ता नहीं हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। उन्होंने उन्हें यत्र-तत्र व्यवस्थित किया।<sup>१</sup> आगमों में कुछ अंश प्रक्षिप्त हो सकता है किन्तु उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्धि का काल नहीं हो जाता। उनमें कई अंश ऐसे हैं जो मौलिक हैं। अतएव पूरे आगम का एक काल नहीं किन्तु तत्तत् आगम का परीक्षण करके कालनिर्णय करना जरूरी है। सामान्य तौर पर विद्वानों ने अंग आगमों का काल प्रक्षेपों को बाद किया जाय तो पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना भगवान् महावीर के

१. देखें—सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२ की प्रस्तावना, पृ० ३६ में जेकोबी का कथन।

बाद छठे आचार्य के काल में भद्रबाहु के समय में हुई और उसका काल है ई. पू. ४थी शताब्दी का दूसरा दशक।<sup>१</sup> डा. जेकोबी ने छन्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके यह निश्चय किया था कि किसी भी हालत में आगम के प्राचीन अंश ई० पू० चौथी के अंत से लेकर ई० पू० तीसरी के प्रारम्भ से प्राचीन नहीं ठहरते।<sup>२</sup> हर हालत में हम इतना तो मान ही सकते हैं कि आगमों का प्राचीन अंश ई० पू० का है। उन्हें देवर्षि के काल तक नहीं लाया जा सकता।

वलभी में आगमों का लेखनकाल ई० ४५३ (मतान्तर से ई० ४६६) माना जाता है। उस समय कितने आगम लेखबद्ध किये गये इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। किन्तु इतनी तो कल्पना की जा सकती है कि अंग आगमों का प्रक्षेपों के साथ यह लेखन अंतिम था। अतएव अंगों के प्रक्षेपों की यही अंतिम मर्यादा हो सकती है। प्रश्नव्याकरण जैसे सर्वथा नूतन अंग की वलभी लेखन के समय क्या स्थिति थी यह एक समस्या बनी ही रहेगी। इसका हल अभी तो कोई देखता नहीं है।

कई विद्वान् इस लेखन के काल का और अंग आगमों के रचनाकाल का संमिश्रण कर देते हैं और इसी लेखनसमय को रचनाकाल भी मान लेते हैं। यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे कोई किसी हस्तप्रति के लेखनकाल को देख कर उसे ही रचनाकाल भी मान ले। ऐसा मानने पर तो समग्र वैदिक साहित्य के काल का निर्णय जिन नियमों के आधार पर किया जाता है वह नहीं होगा और हस्तप्रतियों के आधार पर ही करना होगा। सच बात तो यह है कि जैसे वैदिक वाङ्मय श्रुत है वैसे ही जैन आगमों का अंग विभाग भी श्रुत है। अतएव उसके कालनिर्णय के लिए उन्हीं नियमों का उपयोग आवश्यक है जिन नियमों का उपयोग वैदिक वाङ्मय के कालनिर्णय में किया जाता है। अंग आगम भ० महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अतः रचना का प्रारंभ तो भ० महावीर के काल से ही माना जा सकता है। उसमें जो प्रक्षेप हों उन्हें अलग कर उनका समयनिर्णय अन्य आधारों से करना चाहिए।

आगमों में अंगबाह्य ग्रन्थ भी शामिल हुए हैं और वे तो गणधरों की रचना नहीं है अतः उनका समयनिर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित

१. Doctrine of the Jainas, p. 73.

२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २२, प्रस्तावना, पृ० ३१ से ; डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ७३, ८१.

किया जाता है वैसे ही होना चाहिए । अंगबाह्यों का संबंध विविध वाचनाओं से भी नहीं है और संकलन से भी नहीं है । उनमें जिन ग्रन्थों के कर्ता का निश्चित रूप से पता है उनका समय कर्ता के समय के निश्चय से ही होना चाहिए । वाचना और संकलन और लेखन जिन आगमों के हुए उनके साथ जोड़ कर इन अंगबाह्य ग्रन्थों के समय को भी अनिश्चित कोटि में डाल देना अन्याय है और इसमें सचाई भी नहीं है ।

अंगबाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्यश्याम हैं अतएव आर्यश्याम का जो समय है वही उसका रचनासमय है । आर्यश्याम को वीरनिर्वाण संवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला और वे ३७६ तक युगप्रधान रहे । अतएव प्रज्ञापना इसी काल की रचना है, इसमें संदेह को स्थान नहीं है । प्रज्ञापना आदि से अंत तक एक व्यवस्थित रचना है जैसे कि षट्खंडागम आदि ग्रन्थ हैं । तो क्या कारण है कि उसका रचनाकाल वही न माना जाय जो उसके कर्ता का काल है और उसके काल को वलभी के लेखनकाल तक खींचा जाय ? अतएव प्रज्ञापना का रचनाकाल ई० पू० १६२ से ई० पू० १५१ के बीच का निश्चित मानना चाहिए ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति<sup>१</sup> और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति—ये तीन प्रज्ञप्तियाँ प्राचीन हैं इसमें भी संदेह को स्थान नहीं है । दिगंबर परंपरा ने दृष्टिवाद के परिकर्म में इन तीनों प्रज्ञप्तियों का समावेश किया है और दृष्टिवाद के अंश का अविच्छेद भी माना है । तो यही अधिक संभव है कि ये तीनों प्रज्ञप्तियाँ विच्छिन्न न हुई हों । इनका उल्लेख श्वेताम्बरों के नन्दी आदि में भी मिलता है । अतएव यह तो माना ही जा सकता है कि इन तीनों की रचना श्वेताम्बर-दिगंबर के मतभेद के पूर्व हो चुकी थी । इस दृष्टि से इनका रचनासमय विक्रम के प्रारंभ से इधर नहीं आ सकता । दूसरी बात यह है कि सूर्य-चन्द्रप्रज्ञप्ति में जो ज्योतिष की चर्चा है वह भारतीय प्राचीन वेदांग के समान है । बाद का जो ज्योतिष का विकास है वह उसमें नहीं है । ऐसी परिस्थिति में इनका समय विक्रम पूर्व ही हो सकता है, बाद में नहीं ।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना भद्रबाहु ने की थी । इनके ऊपर प्राचीन नियुक्ति-भाष्य आदि प्राकृत टीकाएँ भी लिखी गई हैं । अतएव इनके विच्छेद की कोई कल्पना करना उचित नहीं है । धवला में कल्प-व्यवहार को अंगबाह्य गिना गया है और उसके विच्छेद की वहाँ कोई चर्चा नहीं है । भद्रबाहु का समय ई० पू० ३५७ के आसपास निश्चित है । अतः उनके द्वारा रचित दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार का समय भी वही होना

१. सांप्रतकाल में उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दीखता ।

चाहिए। निशोथ आचारांग की चूला है और किसी काल में उसे आचारांग से पृथक् किया गया है। उस पर भी नियुक्ति, भाष्य, चूर्ण आदि प्राकृत टीकाएँ हैं। धवला ( पृ० ६६ ) में अंगबाह्य रूप से इसका उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा उसमें नहीं है अतएव उसके विच्छेद की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। डा० जेकोबी और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ई० पू० चौथी का अन्त और तीसरी का प्रारंभ माना गया है वह उचित ही है।<sup>१</sup> जीतकल्प आचार्य जिनभद्र की कृति होने से उसका भी समय निश्चित ही है। यह स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं किन्तु पूर्वोक्त छेद ग्रन्थों का साररूप है। आचार्य जिनभद्र के समय के निर्धारण के लिए विशेषावश्यक की जैसलमेर की एक प्रति के अन्त में जो गाथा दी गई है वह उपयुक्त साधन है। उसमें शक संवत् ५३१ का उल्लेख है। तदनुसार ई० ६०६ बनता है। उससे इतना सिद्ध होता है कि जिनभद्र का काल इससे बाद तो किसी भी हालत में नहीं ठहरता। गाथा में जो शक संवत् का उल्लेख है वह संभवतः उस प्रति के किसी स्थान पर रखे जाने का है। इससे स्पष्ट है कि वह उससे पहले रचा गया था। अतएव इसी के आस-पास का काल जीतकल्प की रचना के लिए भी लिया जा सकता है।

महानिशोथ का जो संस्करण उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धार किया हुआ है। अतएव उसका भी वही समय होगा जो आचार्य हरिभद्र का है। आचार्य हरिभद्र का समयनिर्धारण अनेक प्रमाणों से आचार्य जिनविजयजी ने किया है और वह है ई० ७०० से ८०० के बीच का।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शर्यभभ ने की है और यह तो साधुओं को नित्य स्वाध्याय के काम में आता है अतएव उसका विच्छेद होना संभव नहीं था। अपराजित सूरि ने सातवीं-आठवीं शती में उसकी टीका भी लिखी थी। उससे पूर्व नियुक्ति, चूर्ण आदि टीकाएँ भी उस पर लिखी गई हैं। पांचवीं-छठी शती में होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने ( सर्वार्थसिद्धि, १. २० ) भी दशवैकालिक का उल्लेख किया है और उसे प्रमाण मानना चाहिए ऐसा भी कहा है। उसके विच्छेद की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। धवला ( पृ० ६६ ) में भी अंगबाह्य रूप से दशवैकालिक का उल्लेख है और उसके विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। दशवैकालिक में चूलाएँ बाद में जोड़ी गई हैं यह निश्चित है किन्तु उसके जो दस अध्ययन हैं जिनके आधार पर उसका नाम निष्पन्न है वे तो मौलिक ही हैं। ऐसी परिस्थिति में उन दस अध्ययनों के कर्ता तो शर्यभभ हैं ही और

१. डोक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ८१.

जो समय शय्यंभव का है वही उसका भी है। शय्यंभव वीर नि. ७५ से ९० तक युगप्रधान पद पर रहे हैं अतएव उनका समय ई० पू. ४५२ से ४२९ है। इसी समय के बीच दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की होगी।

उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नहीं है किन्तु संकलन है। उत्तराध्ययन का उल्लेख अंगबाह्य रूप से धवला ( पृ० ९६ ) और सर्वार्थसिद्धि में ( १. २० ) है। उसपर नियुक्ति-चूर्णि टीकाएं प्राकृत में लिखी गई हैं। इसी कारण उसकी सुरक्षा भी हुई है। उसका समय जो विद्वानों ने माना है वह है ई० पू० तीसरी-चौथी शती।

आवश्यक सूत्र तो अंगागम जितना ही प्राचीन है। जैन निग्रन्थों के लिए प्रतिदिन करने की आवश्यक क्रियासंबंधी पाठ इसमें हैं। अंगों में जहाँ स्वाध्याय का उल्लेख आता है वहाँ प्रायः यह लिखा रहता है कि 'सामाह्याइणि एकादसंगाणि' ( भगवती सूत्र ९३, ज्ञाता ५६, ६४; विपाक ३३ ); 'सामाह्य-माह्याइं चोद्दसपुव्वाइ' ( भगवती सूत्र ६१७, ४३२; ज्ञाता० ५४, ५५, १३० )। इससे सिद्ध होता है कि अंग से भी पहले आवश्यक सूत्र का अध्ययन किया जाता था। आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक है। इस दृष्टि से आवश्यक सूत्र के मौलिक पाठ जिन पर नियुक्ति, भाष्य, विशेषावश्यक-भाष्य, चूर्णि आदि प्राकृत टीकाएं लिखी गई हैं वे अंग जितने पुराने होंगे। अंगबाह्य आगम के भेद आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त—इस प्रकार किये गये हैं। इससे भी इसका महत्त्व सिद्ध होता है। आवश्यक के छहों अध्ययनों के नाम धवला में अंगबाह्य में गिनाए हैं। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक सूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती ही है। आवश्यक चूंकि नित्यप्रति करने की क्रिया है अतएव ज्ञान-वृद्धि और ध्यानवृद्धि के लिए उसमें परिसमय-समय उपयोगी पाठ बढ़ते गये हैं। आधुनिक भाषा के पाठ भी उसमें जोड़े गये हैं किन्तु मूल पाठ कौन से थे इसका तो पृथक्करण प्राचीन प्राकृत टीकाओं के आधार पर करना सहज है। और वैसा श्री पं० सुखलालजी ने अपने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ में किया भी है। अतएव उन पाठों के ही समय का विचार यहाँ प्रस्तुत हैं। उन पाठों का समय भ० महावीर के जीवनकाल के आसपास नहीं तो उनके निर्वाण के निकट या बाद की प्रथम शती में तो रखा जा सकता है।

पिण्डनियुक्ति दशवैकालिक की टीका है और वह आ० भद्रबाहु की कृति है।

१. डीक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स, पृ० ८१.

ये भद्रबाहु अधिक संभव यह है कि द्वितीय हों। यदि यह स्थिति सिद्ध हो तो उनका समय पांचवीं शताब्दी ठहरता है।

नन्दी सूत्र देववाचक की कृति है अतएव उसका समय पांचवीं-छठी शताब्दी हो सकता है। अनुयोगद्वार सूत्र के कर्ता कौन हैं यह कहना कठिन है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या है अतएव उसके बाद का तो है ही। उसमें कई ग्रन्थों के उल्लेख हैं। यह कहा जा सकता है कि वह विक्रम पूर्व का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ ऐसा है कि संभव है उसमें कुछ प्रक्षेप हुए हों। इसकी एक संक्षिप्त वाचना भी मिलती है।

प्रकीर्णकों में से चउसरण, आउरपच्चक्खाग और भङ्गपरिज्ञा—ये तीन वीरभद्र की रचनाएं हैं ऐसा एक मत है। यदि यह सच है तो उनका समय ई० ६५१ होता है। गच्छाचार प्रकीर्णक का आधार है—महानिशीथ, कल्प और व्यवहार। अतएव यह कृति उनके बाद की हो इसमें संदेह नहीं है।<sup>१</sup>

वस्तुस्थिति यह है कि एक-एक ग्रन्थ लेकर उसका बारीकी से अध्ययन करके उसका समय निर्धारित करना अभी बाकी है। अतएव जबतक यह नहीं होता तबतक ऊपर जो समय की चर्चा की गई है वह कामचलाऊ समझी जानी चाहिए। कई विद्वान् इन ग्रन्थों के अध्ययन में लगे तभी यथार्थ और सर्वग्राही निर्णय पर पहुंचा जा सकेगा। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक ऊपर जो समय के बारे में लिखा है वह मान कर हम अपने शोधकार्य को आगे बढ़ा सकते हैं।

### आगम-विच्छेद का प्रश्न :

व्यवहार सूत्र में विशिष्ट आगम-पठन की योग्यता का जो वर्णन है ( दशम उद्देशक ) उस प्रसंग में निर्दिष्ट आगम, तथा नदी और पाक्षिकसूत्र में जो आगम-सूची दी है तथा स्थानांग में प्रासंगिक रूप से जिन आगमों का उल्लेख है—इत्यादि के आधार पर श्री कापडिया ने श्वेताम्बरों के अनुसार अनुपलब्ध आगमों की विस्तृत चर्चा की है।<sup>२</sup> अतएव यहाँ विस्तार अनावश्यक है। निम्न अंग आगमों का अंश श्वेताम्बरों के अनुसार सांप्रतकाल में अनुपलब्ध हैं :—

१ आचारांग का महापरिज्ञा अध्ययन, २ ज्ञाताधर्मकथा की कई कथाएं, ३ प्रश्नव्याकरण का वह रूप जो नदी, समवाय आदि में निर्दिष्ट है तथा दृष्टि-वाद—इतना अंश तो अंगों में से विच्छिन्न हो गया यह स्पष्ट है। अंगों के जो परिमाण निर्दिष्ट हैं उसे देखते हुए और यदि वह वस्तुस्थिति का बोधक है तो

१. कापडिया—केनोनिकल लिटरेचर, पृ० ५२.

२. केनोनिकल लिटरेचर, प्रकरण ४.



मानना चाहिए कि अंगों का जो भाग उपलब्ध है उससे कहीं अधिक विलुप्त हो गया है। किन्तु अंगों का जो परिमाण बताया गया है वह वस्तुस्थिति का बोधक हो ऐसा जंचता नहीं क्योंकि अधिकांश को उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण बताया गया है किन्तु वे यथार्थ में वैसे ही रूप में हों ऐसी संभावना नहीं है। केवल महत्त्व समर्पित करने के लिए वैसे कह दिया हो यह अधिक संभव है। ऐसी ही बात द्वीप-समुद्रों के परिमाण में भी देखी गई है। वह भी गणितिक सचाई हो सकती है पर यथार्थ से उसका कोई मेल नहीं है।

दिगम्बर आम्नाय जो धवला टीका में निर्दिष्ट है तदनुसार गौतम से सकल श्रुत ( द्वादशांग और चौदह पूर्व ) लोहाय को मिला, उनसे जंबू को। ये तीनों ही सकल श्रुतसागर के पारगामी थे। उसके बाद क्रम से विष्णु आदि पांच आचार्य हुए जो चौदहपूर्वधर थे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब उन्हें चौदहपूर्वधर कहा है तो वे शेष अंगों के भी ज्ञाता थे ही। अर्थात् ये भी सकलश्रुतधर थे। गौतम आदि तीन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में सर्वज्ञ भी हुए और ये पांच नहीं हुए इतना ही इन दोनों वर्गों में भेद है।

उसके बाद विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दशपूर्वधर हुए। तात्पर्य यह है कि ये सकलश्रुत में से केवल दशपूर्व अंश के ज्ञाता थे, संपूर्ण के नहीं। इसके बाद नक्षत्रादि पांच आचार्य ऐसे हुए जो एकादशांगधारी थे और बारहवें अंग के चौदहपूर्वों के अंशधर ही थे। एक भी पूर्व संपूर्ण इन्हें ज्ञात नहीं था। उसके बाद सुभद्रादि चार आचार्य ऐसे हुए जो केवल आचारांग को संपूर्ण रूप से किन्तु शेष अंगों और पूर्वों के एक देश को ही जानते थे। इसके बाद संपूर्ण आचारांग के धारक भी कोई नहीं हुए और केवल सभी अंगों के एक देश को और सभी पूर्वों के एक देश को जानने वाले आचार्यों की परंपरा चली। यही परंपरा धरसेन तक चली है।<sup>१</sup>

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि सकलश्रुतधर होने में द्वादशांग का जानना जरूरी है। अंगबाह्य ग्रन्थों का आधार ये ही द्वादशांग थे अतएव सकलश्रुतधर होने में अंगबाह्य महत्त्व के नहीं। यह भी स्पष्ट होता है कि इसमें क्रमशः अंगधरों अर्थात् अंगविच्छेद की ही चर्चा है। धवला में ही आवश्यकतादि १४ अंगबाह्यों का उल्लेख है<sup>२</sup> किन्तु उनके विच्छेद की चर्चा नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कम से कम धवला के समय तक अंगबाह्यों के विच्छेद की

१. धवला पु० १, पृ० ६५-६७; जयधवला, पृ० ८३.

२. धवला, पृ० ६६ (पु० १).

कोई चर्चा दिगम्बर आम्नाय में थी ही नहीं। आचार्य पूज्यपाद ने श्रुतविवरण में सर्वाथसिद्धि में अंगबाह्य और अंगों की चर्चा की है किन्तु उन्होंने आगमविच्छेद की कोई चर्चा नहीं की। आचार्य अकलंक जो धवला से पूर्व हुए हैं उन्होंने भी अंग या अंगबाह्य आगमविच्छेद की कोई चर्चा नहीं की है। अतएव धवला की चर्चा से हम इतना ही कह सकते हैं कि धवलाकार के समय तक दिगंबर आम्नाय में अंगविच्छेद की बात तो थी किन्तु आवश्यक आदि अंगबाह्य के विच्छेद की कोई मान्यता नहीं थी। अतएव यह संशोधन का विषय है कि अंगबाह्य के विच्छेद की मान्यता दिगम्बर परंपरा में कब से चली? खेद इस बात का है कि पं० कैलाशचन्द्रजी ने आगमविच्छेद की बहुत बड़ी चर्चा अपनी पीठिका में की है किन्तु इस मूल प्रश्न की छानबीन किये बिना ही दिगंबरों की सांप्रतकालीन मान्यता का उल्लेख कर दिया है और उसका समर्थन भी किया है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आगम की सुरक्षा का प्रश्न जब आचार्यों के समक्ष था तब द्वादशांगरूप गणिपिटक की सुरक्षा का ही प्रश्न था क्योंकि ये ही मौलिक आगम थे। अन्य आगम ग्रन्थ तो समय और शक्ति के अनुसार बनते रहते हैं और लुप्त होते रहते हैं। अतएव आगमवाचना का प्रश्न मुख्यरूप से अंगों के विषय में ही है। इन्हीं की सुरक्षा के लिए कई वाचनाएं की गई हैं। इन वाचनाओं के विषय में पं० कैलाशचन्द्र ने जो चित्र उपस्थित किया है (पीठिका पृ० ४६६ से) उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता है। वह यथासमय किया जायगा।

यहाँ तो हम विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर खींचना चाहते हैं कि आगम पुस्तकाकार रूप में लिखे जाते थे या नहीं, और इस पर भी कि श्रुतविच्छेद की जो बात है वह लिखित पुस्तक की है या स्मृत श्रुत की? आगम पुस्तक में लिखे जाते थे इसका प्रमाण अनुयोगद्वारा सूत्र जितना तो प्राचीन है ही। उसमें आवश्यक सूत्र की व्याख्या के प्रसंग से स्थापना-आवश्यक की चर्चा में पोत्यकम्म को स्थापना-आवश्यक कहा है।<sup>१</sup> इसी प्रकार श्रुत के विषय में स्थापना-श्रुत में भी पोत्यकम्म को स्थापना-श्रुत कहा है (अनुयोगद्वारा सू० ३१ पृ० ३२ अ)। द्रव्यश्रुत के भेद रूप से जायकशरीर और भव्यशरीर के अतिरिक्त जो द्रव्यश्रुत का भेद है उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि "पत्तयपोह्य-

१. अनुयोग की टीका में लिखा है—“अथवा पोत्यं पुस्तकं तच्चेह संपुटरूपं गृह्यते तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः। अथवा पोत्यं ताडपत्रादि तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकम्” पृ० १३ अ.

लिहियं” ( सूत्र ३७ ) । उस पद की टीका में अनुयोगद्वार के टीकाकार ने लिखा है —“पत्रकाणि तलतास्यादिसंबन्धीनि, तत्संघातनिष्पन्नास्तु पुस्तकाः, ततश्च पत्रकाणि च पुस्तकाश्च, तेषु लिखितं पत्रकपुस्तकलिखितम् । अथवा 'पोत्थय'ति पोतं वस्त्रं पत्रकाणि च पोतं च, तेषु लिखितं पत्रकपोतलिखितं जशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतम् । अत्र च पत्रकादिलिखितस्य श्रुतस्य भावश्रुत-कारणत्वात् द्रव्यश्रुतत्वमेव अवसेयम् ।”—पृ० ३४ ।

इस श्रुतचर्चा में अनुयोगद्वार को भावश्रुतरूप से कौन सा श्रुत विवक्षित है यह भी आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है । आगे लोकोत्तर नोआगम भावश्रुत के भेद में तीर्थंकरप्रणीत द्वादशांग गणिपिटक आचार आदि को भावश्रुत में गिना है ।<sup>१</sup> इससे शंका को कोई स्थान नहीं रहना चाहिए और यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अनुयोगद्वार के समय में आचार आदि अंग पुस्तकरूप में लिखे जाते थे ।

अंग आगम पुस्तक में लिखे जाते थे किन्तु पठन-पाठन प्रणाली में तो गुरुमुख से ही आगम की वाचना लेनी चाहिए यह नियम था । अन्यथा करना अच्छा नहीं समझा जाता था । अतएव प्रथम गुरुमुख से पढ़ कर ही पुस्तक में लेखन या उसका उपयोग किया जाता होगा ऐसा अनुमान होता है । विशेषावश्यकभाष्य में वाचना के शिक्षित आदि गुणों<sup>२</sup> के वर्णन में आचार्य जिनभद्र ने 'गुरुवायणो-वगयं'—गुरुवाचनोपगत का स्पष्टीकरण किया है कि “ण चोरितं पोत्थयातो-वा”—गा० ८५२ । उसकी स्वकृत व्याख्या में लिखा है कि “गुरुनिर्वाचितम्, न चौर्यात् कर्णाघाटितं, स्वतंत्रेण वाऽधीतं पुस्तकात्”—विशेषा० स्वोपज्ञ व्याख्या गा० ८५२ । तात्पर्य यह है कि गुरु किसी अन्य को पढ़ाते हों और उसे चोरी से सुनकर या पुस्तक से श्रुत का ज्ञान लेना यह उचित नहीं है । वह तो गुरुमुख से उनकी संमति से सुन कर ही करना चाहिए । इससे भी स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार के पहले अन्य लिखे जाते थे किन्तु उनका पठन सर्वप्रथम गुरुमुख से होना जरूरी था । यह परंपरा जिनभद्र तक तो मान्य थी ही ऐसा भी कहा जा सकता है । गुरु के मुख से सुनकर अपनी स्मृति का भार हलका करने के लिए कुछ नोंधरूप ( टिप्पणरूप ) आगम प्रारम्भ में लिखे जाते होंगे । यह भी कारण है कि उसका मूल्य उतना नहीं हो सकता जितना श्रुतधर की स्मृति में रहे हुए आगमों का ।

१. अनुयोगद्वार—सूत्र ४२, पृ० ३७ अ.

२. अनुयोगद्वार में शिक्षित, स्थित, जित आदि गुणों का निर्देश है उनकी व्याख्या जिनभद्र ने की है—अनु० सू० १३.

यह सब अनुमान ही है। किन्तु जब आगम पुस्तकों में लिखे गये थे फिर भी वाचनान्त्रों का महत्त्व माना गया, तो उससे यही अनुमान हो सकता है जो सत्य के निकट है। गुरुमुख से वाचना में जो आगम मिले वही आगम परंपरागत कहा जाएगा। पुस्तक से पढ़ कर किया हुआ ज्ञान, या पुस्तक में लिखा हुआ आगम उतना प्रमाण नहीं माना जायगा जितना गुरुमुख से पढ़ा हुआ। यही गुरुपरंपरा की विशेषता है। अतएव पुस्तक में जो कुछ भी लिखा हो किन्तु महत्त्व तो उसका है जो वाचक की स्मृति में है। अतएव पुस्तकों में लिखित होने पर भी उसके प्रामाण्य को यदि महत्त्व नहीं मिला तो उसका मूल्य भी कम हुआ। इसी के कारण पुस्तक में लिखे रहने पर भी जब-जब संघ को मालूम हुआ हो कि श्रुतधरों का ह्रास हो रहा है, श्रुतसंकलन के प्रयत्न की आवश्यकता पड़ी होगी और विभिन्न वाचनाएँ हुईं होंगी।

अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय। आगमविच्छेद के विषय में भी दो मत हैं। एक के अनुसार सुत्त विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार सुत्त नहीं किन्तु सुत्तधर—प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं।<sup>१</sup> इन दोनों मान्यताओं का निर्देश नंदी-वृष्णि जितना तो पुराना है ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगंबर परंपरा के धवला ( पृ० ६५ ) में तथा जयधवला ( पृ० ८३ ) में दूसरे पक्ष को माना गया है अर्थात् श्रुतधरों के विच्छेद की चर्चा प्रधानरूप से की गई है और श्रुतधरों के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है। किन्तु आज का दिगंबर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक में लिखित आगमों का उतना महत्त्व नहीं है जितना श्रुतधरों की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

जिस प्रकार धवला में क्रमशः श्रुतधरों के विच्छेद की बात कही है उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है—

प्रथम भ० महावीर से भद्रबाहु तक की परंपरा दी गई है और स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये इस बात का निर्देश है। यह निर्दिष्ट है कि दशपूर्वधरों में अंतिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वी का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है कि यही उल्लेख भगवती सूत्र में ( २. ८ ) भी है। तित्थोगाली में उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमशः श्रुतविच्छेद की चर्चा की गई है—

१. देखिए—नंदीचूणि, पृ० ८.

ई० ७२३ =	वीर-निर्वाण १२५० में विवाहप्रज्ञप्ति और छः बंगों का विच्छेद
ई० ७७३ =	,, १३०० में समवायांग का विच्छेद
ई० ८२३ =	,, १३५० में ठाणांग का ,,
ई० ८७३ =	,, १४०० में कल्प-व्यवहार का ,,
ई० ९७३ =	,, १५०० में दशाश्रुत का ,,
ई० १३७३ =	,, १९०० में सूत्रकृतांग का ,,
ई० १४७३ =	,, २००० में विशाख मुनि के समय में निशीथ का ,,
ई० १७७३ =	,, २३०० में आचारांग का ,,

दुसमा के अंत में दुप्सह मुनि के होने के उल्लेख के बाद यह कहा गया है कि वे ही अंतिम आचारधर होंगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि—

ई० १९९७३ =	वीरनि० २०५०० में उत्तराध्ययन का विच्छेद
ई० २०३७३ =	,, २०९०० में दशवै० सूत्र का विच्छेद
ई० २०४७३ =	,, २१००० में दशवै० के अर्थ का विच्छेद दुप्सह मुनि की मृत्यु के बाद।
ई० २०४७३ =	,, २१००० पर्यन्त आवश्यक, अनुयोगद्वार और नन्दी सूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।

—तित्थोगाली गा० ६९७—८६६.

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरों के अनुकूल ग्रन्थ है ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थकरों की माताओं के १४ स्वप्नों का उल्लेख है गा० १००, १०२४; स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है गा० ५५६; आवश्यक-नियुक्ति की कई गाथाएँ इसमें आती हैं गा० ७० से, ३८३ से इत्यादि; अनुयोग-द्वार और नन्दी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यन्त टिके रहने की बात; दशआ-श्चर्य की चर्चा गा० ८८७ से; नन्दीसूत्रगत संघस्तुतिका अवतरण गा० ८४८ से है।

आगमों के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनों में है उसी प्रकार बौद्धों के अनागतवंश में भी त्रिपिटक के विच्छेद की चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणों की यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमशः होता है। तित्थोगाली में अंगविच्छेद की चर्चा है इस बात को व्यवहारभाष्य के कर्ता ने भी माना है—

“तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होइ आणुपुब्बीए ।  
जे तस्स उ अंगस्स बुच्छेदो जहि विणिहिट्ठो”

—व्य० भा० १०.७०४

इससे जाना जा सकता है कि अंगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगंबर-श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरों ने अंगों के अंश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अंश आज हमें उपलब्ध है—यह माना जाय तो इसमें क्या अनुचित है ?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरों में भी धवला के अनुसार सर्व अंगों का संपूर्ण रूप से विच्छेद माना नहीं गया है किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अंग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परंपरा चली है। उस परंपरा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है किन्तु वह परंपरा विच्छिन्न हो गई ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला में भी नहीं है। वहाँ स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए हैं वे सभी “सर्वेसिमंगपुव्वाणमेकदेशधारया जादा” अर्थात् सर्व अंग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं—जयधवला भा० १, पृ० ८७; धवला पृ० ६७।

तिलोयपण्णत्ति में भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारांगधारी तक का समय वीरनि० ६८३ बताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अंग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अंग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व में संदेह नहीं है। उसके अनुसार भी अंगबाह्य के विच्छेद का कोई प्रश्न उठाया नहीं गया है। वस्तुतः तिलोयपण्णत्ति के अनुसार श्रुततीर्थ का विच्छेद वीरनि० २०३१७ में होगा अर्थात् तब तक श्रुत का एकदेश विद्यमान रहेगा ही (देखिए, ४. गा० १४७५—१४९३)।

तिलोयपण्णत्ति में प्रक्षेप की मात्रा अधिक है फिर भी उसका समय डा० उपाध्ये ने जो निश्चित किया है वह माना जाय तो वह ई० ४७३ और ६०९ के बीच है। तदनुसार भी उस समय तक सर्वथा श्रुतविच्छेद की चर्चा नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति का ही अनुसरण धवला में माना जा सकता है।

ऐसी ही बात यदि श्वेतांबर परंपरा में भी हुई हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसमें भी संपूर्ण नहीं होने से अंग आगमों का एकदेश सुरक्षित रहा हो और उसे ही संकलित कर सुरक्षित रखा गया हो तो इसमें क्या असंगति है ? दोनों परंपराओं में अंग आगमों का

जो परिमाण बताया गया है उसे देखते हुए श्वेताम्बरों के अंग आगम एकदेश ही सिद्ध होते हैं। ये आगम आधुनिक दिग्म्बरों को मान्य हों या न हों यह एक दूसरा प्रश्न है। किन्तु श्वेताम्बरों ने जिन अंगों को संकलित कर सुरक्षित रखा है उसमें अंगों का एक अंश—बड़ा अंश विद्यमान है—इतनी बात में तो शंका का कोई स्थान होना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उन अंगों में यत्र-तत्र प्रक्षेप भी हैं और प्रश्नव्याकरण तो नया ही बनाया गया है।

इस चर्चा के प्रकाश में यदि हम निम्न वाक्य जो पं० कैलाशचन्द्र ने अपनी पीठिका में लिखा है उसे निराधार कहें तो अनुचित नहीं माना जायगा। उन्होंने लिखा है—“और अन्त में महावीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अंगों का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो गया।” पीठिका पृ० ५१८। उनका यह मत स्वयं धवला और जयधवला के अभिमतों से विरुद्ध है और अपनी ही कल्पना के आधार पर खड़ा किया गया है।

## श्रुतावतार :

श्रुतावतार की परंपरा श्वेताम्बर-दिग्म्बरों में एक सी ही है किन्तु पं० कैलाशचन्द्रजी ने उसमें भी भेद बताने का प्रयत्न किया है अतएव यहाँ प्रथम दोनों संप्रदायों में इसी विषय में किस प्रकार ऐक्य है, सर्वप्रथम इसकी चर्चा करके बाद में पंडितजी के कुछ प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। भ० महावीर शासन के नेता थे और उनके अनेक गणधर थे इस विषय में दोनों संप्रदायों में कोई मतभेद नहीं। भगवान् महावीर या अन्य कोई तीर्थंकर अर्थ का ही उपदेश देते हैं, सूत्र की रचना नहीं करते इसमें भी दोनों संप्रदायों का ऐकमत्य है।

श्रुतावतार का क्रम बताते हुए अनुयोगद्वार में कहा गया है—

“अहवा आगमे त्तिविहे पणत्ते । तं जहा-अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे । तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसीसां सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे । तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अणंतरागमे, परंपरागमे ।”—अनुयोगद्वार सू० १४४, पृ० २१६। इसी का पुनरावर्तन निशीथचूर्णि (पृ० ४) आदि में भी किया गया है।

पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इस विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—“तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः । तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धचित्शयर्द्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवल-भिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्—अङ्गपूर्वेलक्षणम् ।”—सर्वार्थसिद्धि १.२० ।

स्पष्ट है कि पूज्यपाद के समय तक ग्रन्थरचना के विषय में श्वेताम्बर-दिगंबर में कोई मतभेद नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि केवल एक ही गणधर सूत्र रचना नहीं करते किन्तु अनेक गणधर सूत्ररचना करते हैं। पूज्यपाद को तो यही परंपरा मान्य है जो श्वेताम्बरों के संमत अनुयोग में दी गई है यह स्पष्ट है। इसी परंपरा का समर्थन आचार्य अकलंक और विद्यानन्द ने भी किया है—

“बुद्धचित्शयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः अनुस्मृतग्रन्थरचनम्—आचारादिद्वादशविधमङ्ग-प्रविष्टमुच्यते ।”—राजवार्तिक १. २०. १२, पृ० ७२ । “तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञ-वोतरागप्रणोक्तत्वसिद्धेः, अहंद्वाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितम्” इति वचनात् ।” तत्त्वाथंश्लोकवार्तिक पृ० ६; “द्रव्यश्रुतं हि द्वादशाङ्गं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतम्, तद्बुभयमपि गणधरदेवानां भगवदहंत्सर्वज्ञवचनातिशय-प्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमा-प्त्यत्तं न भवेत् ?” वही पृ० १ ।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक और आचार्य विद्यानन्द ये सभी दिगंबर आचार्य स्पष्ट रूप से मानते हैं कि सभी गणधर सूत्र-रचना करते हैं।

ऐसी परिस्थिति में इन आचार्यों के मत के अनुसार यही फलित होता है कि गौतम गणधर ने और अन्य सुधर्मा आदि ने भी ग्रन्थरचना की थी। केवल गौतम ने ही ग्रन्थरचना की हो और सुधर्मा आदि ने न की हो यह फलित नहीं होता। यह परिस्थिति विद्यानन्द तक तो मान्य थी ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा ही मत श्वेताम्बरों का भी है।

पं० कैलाशचन्द्र ने यह लिखा है कि “हमने इस बात को खोजना चाहा कि जैसे दिगंबर परंपरा के अनुसार प्रधान गणधर गौतम ने महावीर की देशना को अंगों में गूँथा वैसे श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार महावीर की वाणी को सुनकर उसे अंगों में किसने निबद्ध किया ? किन्तु खोजने पर भी हमें किसी खास गणधर का निर्देश इस संबंध में नहीं मिला ।”—पीठिका पृ० ५३० ।

इस विषय में प्रथम यह बता देना जरूरी है कि यहाँ पं० कैलाशचन्द्रजी यह बात ‘केवल गौतम ने ही अंगरचना की थी’—इस मन्तव्य को मानकर ही



कह रहे हैं। और यह मन्तव्य धवला से उन्हें मिला है जहाँ यह कहा गया है कि गौतम ने अंगज्ञान सुधर्मा को दिया। अतएव यह फलित किया गया कि सुधर्मा ने अंगग्रथन नहीं किया था, केवल गौतम ने किया था।

हमने ऊपर जो पूज्यपाद आदि धवला से प्राचीन आचार्यों के अवतरण दिये हैं उससे तो यही फलित होता है कि धवलाकार ने अपना यह नया मन्तव्य प्रचलित किया है यदि—जैसा कि पंडित कैलाशचन्द्र ने माना है—यही सच हो। अतएव धवलाकार के वाक्य की संगति बैठाना हो तो इस विषय में दूसरा ही मार्ग लेना होगा या यह मानना होगा कि धवलाकार प्राचीन आचार्यों से पृथक् मतान्तर को उपस्थित कर रहे हैं, जिसका कोई प्राचीन आधार नहीं है। यह केवल उन्हीं का चलाया हुआ मत है। हमारा मत तो यही है कि धवलाकार के वाक्य की संगति बैठाने का दूसरा ही मार्ग लेना चाहिए, न कि पूर्वाचार्यों के मत के साथ उनकी विसंगति का।

अब यह देखा जाय कि क्या श्वेताम्बरों ने किसी गणधर व्यक्ति का नाम सूत्र के रचयिता के रूप में दिया है कि नहीं जिसकी खोज तो पं० कैलाशचन्द्र ने की किन्तु वे विफल रहे।

आवश्यकनियुक्ति की गाथा है—

“एङ्कारस वि गणधरे पवायए पवयणस्स वंदामि ।  
सब्बं गणधरवंसं वायगवंसं पवयगं च ॥ ८० ॥

—विशेषा० १०६२

इसकी टीका में आचार्य मलधारी ने स्पष्टरूप से लिखा है—

“गौतमादीन् वन्दे । कथं भूतान् प्रकर्षेण प्रधानाः आदौ वा वाचकाः  
प्रवाचकाः प्रवचनस्य आगमस्य ।”—पृ० ४६० ।<sup>१</sup>

इसी नियुक्तिगाथा की भाष्यगाथाओं की स्वोपज्ञ टीका में जिनभद्र ने भी लिखा है—

“यथा अहंनर्थस्य वक्तोति पूज्यस्तथा गणधराः गौतमादयः सूत्रस्य वक्तार इति पूज्यन्ते मङ्गलत्वाच्च ।”

प्रस्तुत में गौतमािका स्पष्ट उल्लेख होने से ‘श्वेताम्बरों में साधारण रूप से गणधरों का उल्लेख है किन्तु खास नाम नहीं मिलता’—यह पंडितजी का कथन निमूल सिद्ध होता है।

१. यह पुस्तक पंडितजी ने देखी है अतएव इसका अवतरण यहाँ दिया है।

यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि पंडितजी ने अपनी पीठिका में जिन "तवनियमनाण" इत्यादि नियुक्ति की दो गाथाओं को विशेषावश्यक से उद्धृत किया है (पीठिका पृ० ५३० की टिप्पणी) उनकी टीका तो पंडितजी ने अवश्य ही देखी होगी—उसमें आचार्य हेमचन्द्र स्पष्टरूप से लिखते हैं—

“तेन विमलबुद्धिमयेन पटेन गणधरा गौतमादयो”—विशेषा० टीका० गा० १०६५, पृ० ५०२। ऐसा होते हुए भी पंडितजी को श्वेताम्बरों में सूत्र के रचयिता के रूप में खास गणधर के नाम का उल्लेख नहीं मिला—यह एक आश्चर्यजनक घटना ही है। और यदि पंडितजी का मतलब यह हो कि किसी खास = एक ही व्यक्ति का नाम नहीं मिलता तो यह बता देना जरूरी है कि श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों के मत से जब सभी गणधर प्रवचन की रचना करते हैं तो किसी एक ही का नाम तो मिल ही नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में इसके आधार पर पंडितजी ने श्रुतावतार की परंपरा में दोनों संप्रदायों के भेद को मान कर जो कल्पनाजाल खड़ा किया है वह निरर्थक है।

पं० कैलाशचन्द्रजी मानते हैं कि श्वेताम्बर-वाचनागत अंगज्ञान सार्वजनिक है “किन्तु दिगंबर-परंपरा में अंगज्ञान का उत्तराधिकार गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में ही प्रवाहित होता हुआ माना गया है। उसके अनुसार अंगज्ञान ने कभी भी सार्वजनिक रूप नहीं लिया।”—पीठिका पृ० ५४३। यहाँ पंडितजी का तात्पर्य ठीक समझ में नहीं आता। गुरु अपने एक ही शिष्य को पढ़ाता था और वह फिर गुरु बन कर अपने शिष्य को—इस प्रकार की परंपरा दिगंबरों में चली है—क्या पंडितजी का यह अभिप्राय है? यदि गुरु अनेक शिष्यों को पढ़ाता होगा तब तो अंगज्ञान श्वेताम्बरों की तरह सार्वजनिक हो जायगा। और यदि यह अभिप्राय है कि एक ही शिष्य को, तब शास्त्रविरोध पंडितजी के ध्यान के बाहर गया है—यह कहना पड़ता है। षट्खंडागम की धवला में परिपाटी और अपरिपाटी से सकल श्रुत के पारगामी का उल्लेख है। उसमें अपरिपाटी से—“अपरिवाडिए पुण सयलसुदवारगा संखेज्जसहस्सा” (धवला पृ० ६५) का उल्लेख है—इसका स्पष्टीकरण पंडितजी क्या करेंगे? हमें तो यह समझ में आता है कि युगप्रधान या वंशपरंपरा में जो क्रमशः आचार्य—गणधर हुए अर्थात् गण के मुखिया हुए उनका उल्लेख परिपाटीक्रम में समझना चाहिए और गण के मुख्य आचार्य के अलावा जो श्रुतधर थे वे परिपाटीक्रम से संबद्ध न होने से अपरिपाटी में गिने गये। वैसे अपरिपाटी में सहस्रों की संख्या में सकल श्रुतधर थे। तो यह अंगश्रुत श्वेताम्बरों की तरह दिगंबरों में भी सार्वजनिक था ही यह मानना

पड़ता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जयधवला में यह स्पष्ट लिखा है कि सुधर्मा ने केवल एक जंबू को ही नहीं किन्तु अंगों की वाचना अपने अनेक शिष्यों को दी थी—“तद्विसे चैव सुहम्माइरियो जंबूसामियादीणमणोयाणमा-इरियाणं वक्खाणिदुवालसंगो घाइचउक्कक्खयेण केवली जादो।”—जयधवला पृ० ८४।

यहाँ स्पष्टरूप से जंबू ने अपने शिष्य ऐसे एक नहीं किन्तु अनेक आचार्यों को द्वादशांग पढ़ाया है—ऐसा उल्लेख है। इस पर से क्या हम कल्पना नहीं कर सकते कि संघ में श्रुतधरों की संख्या बहुत बड़ी होती थी? ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर-दिगंबरों में जिस विषय में कभी भेद रहा नहीं उस विषय में भेद की कल्पना करना उचित नहीं है। प्राचीन परंपरा के अनुसार श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों में यही मान्यता फलित होती है कि सभी गणधर सूत्ररचना करते थे और अपने अनेक शिष्यों को उसकी वाचना देते थे। एक बात और यह भी है कि अंगज्ञान सार्वजनिक हो गया श्वेताम्बरों में और दिगंबरों में नहीं हुआ—इससे पंडितजी का विशेष तात्पर्य क्या यह है कि केवल दिगंबर परंपरा में ही गुरु-शिष्य परंपरा से ही अंगज्ञान प्रवाहित हुआ और श्वेताम्बरों में नहीं? यदि ऐसा ही उनका मन्तव्य है जैसा कि उनके आगे उद्धृत अवतरण से स्पष्ट है तो यह भी उनका कहना उचित नहीं जंचता। हमने अचार्य जिनभद्र के अवतरणों से यह स्पष्ट किया ही है कि उनके समय तक यही परंपरा थी कि शिष्य को गुरुमुख से ही और वह भी उनकी अनुमति से ही, चोरी से नहीं, श्रुत का पाठ लेना जरूरी था और यही परंपरा विशेषावश्यक के टीकाकार हेमचन्द्र ने भी मानी है। इतना ही नहीं आज भी यह परंपरा श्वेताम्बरों में प्रचलित है कि योगपूर्वक, तपस्यापूर्वक गुरुमुख से ही श्रुतपाठ शिष्य को लेना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह उसका पाठी कहा जायगा। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर-परंपरा में वह सार्वजनिक हो गया और दिगंबर-परंपरा में गुरुशिष्य परंपरा तक सीमित रहा—पंडितजी का यह कहना कहाँ तक संगत है?

सार्वजनिक' से तात्पर्य यह हो कि कई साधुओं ने मिल कर अंग की वाचना निश्चित की अतएव श्वेताम्बरों में वह व्यक्तिगत न रहा और सार्वजनिक हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक हो जाने से ही दिगंबरों ने अंगशास्त्र को मान्यता न दी हो यह बात हमारी समझ से तो परे है। कोई एक व्यक्ति कहे वही सत्य और अनेक मिलकर उसकी सचाई की मोहर दें तो वह सत्य नहीं—ऐसा मानने वाला उस काल का दिगंबर संप्रदाय होगा—ऐसा मानने को हमारा मन तो तैयार

नहीं। इसके समर्थन में कोई उल्लेख भी नहीं है। आज का दिगंबर समाज जिस किसी कारण से श्वेताम्बरसम्मत आगमों को न मानता हो उसकी खोज करना जरूरी है किन्तु उसका कारण यह तो नहीं हो सकता कि चूंकि भंग सावैजलिक हो गये थे अतएव वे दिगंबर समाज में मान्य नहीं रहे। अतएव पंडितजी का यह लिखना कि “उसने इस विषय में जन-जन की स्मृति को प्रमाण नहीं माना” निराधार है, कोरी कल्पना है। आखिर जिनके लिए पंडितजी ने ‘जन-जन’ शब्द का प्रयोग किया है वे कौन थे? क्या उन्होंने अपने गुरुओं से भंगज्ञान लिया ही नहीं था? अपनी कल्पना से ही भंगों का संकलन कर दिया था? हमारा तो विश्वास है कि जिनको पंडितजी ने ‘जन-जन’ कहा है वे किसी आचार्य के शिष्य ही थे और उन्होंने अपने आचार्य से सीखा हुआ श्रुत ही वहाँ उपस्थित किया था। इसीलिए तो कहा गया है कि जिसको जितना याद था उसने उतना वहाँ उपस्थित किया।